आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान

आधुनिक
शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखक
ईश्वरचन्द्र शर्मा, एम. ए.
रिसर्च फ़ैलो राजस्थान विश्वविद्यालय, मैम्बर ऑफ़ दी एकैडिमिक
कौन्सिल दी शार्दूल राजस्थान रिसर्च इन्सटीट्यूट, बीकानेर
उपाध्याय, शिक्षा-मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र
महाराजा कॉलिज, जयपुर

प्रस्तावना-लेखक
डाक्टर पी. टी. राजू
एम. ए., पी-एच. डी.
डीन ऑफ़ दी आर्ट्स फ़ैकल्टी
अध्यक्ष दर्शन-शास्त्र तथा मनोविज्ञान-विभाग
श्री राजस्थान विश्वविद्यालय, जोधपुर
(भूतपूर्व, विज़िटिंग प्रोफ़ैसर.
कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय, अमेरिका)

१९५३
आत्माराम एंड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
श्री रामलाल पुरी
आत्माराम एंड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरा गेट, दिल्ली ६

प्रस्तावना

श्री ईश्वरचन्द्र शर्मा के आग्रह पर उनकी शिक्षा-मनोविज्ञान की पुस्तक की प्रस्तावना लिखने में मुझे प्रसन्नता है। मनोविज्ञान एक प्रगतिशील विषय है और भारतीय विश्वविद्यालयों में मध्य स्थित (Intermediate) कक्षाओं में भी पढ़ाया जा रहा है। विशेषकर शिक्षा-मनोविज्ञान अध्यापक प्रशिक्षण महाविद्यालयों (Teachers Training Colleges) तथा विद्यालयों के लिए उपयोगी है। अतः श्री ईश्वरचन्द्र शर्मा द्वारा लिखी हुई पुस्तक की उपयोगिता के प्रति लिखना तो विशेष आवश्यक नहीं है।

श्री शर्मा स्वयं इस विषय के अध्यापक हैं। अतः वह छात्रों की उन कठिनाइयों तथा त्रुटियों को पूर्णतया जानते हैं, जिनको कि उन्होंने इस पुस्तक में दूर करने की चेष्टा की है। उनकी भाषा सरल है और विचार स्पष्ट है। मेरा विश्वास है कि जिन छात्रों के लिए यह पुस्तक लिखी गई है, वे इस व्याख्या को समझने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करेंगे।

एक और उद्देश्य भी है जो इस पुस्तक के द्वारा सिद्ध होता है, वह उद्देश्य पारिभाषिक (शास्त्रीय) विषयों पर हिन्दी में पुस्तके लिखने का है और मनोविज्ञान ऐसा ही एक विषय है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक सामान्य प्रत्ययों के पारिभाषिक शब्दों की समस्या अभी तक नहीं सुलझी है और इस समस्या को सुलझाने के लिए अखिल भारतीय विद्वानों, ऐसे विद्वानों के सहयोग की आवश्यकता है, जो कि बौद्ध, जैन तथा प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान से भी परिचित हों और आधुनिक पश्चिमीय मनोविज्ञान का भी ज्ञान रखते हों। किन्तु इससे पहले कि हम इन पारिभाषिक शब्दों को निर्धारित तथा संचित करने में सफल हों, लेखकों के लिए यह आवश्यक है कि वे इस परिवर्तन की अवधि में निकटवर्ती उचित शब्दों का प्रयोग करते हुए, अपने कार्य मे अग्रसर हों और ऐसा कार्य अनिवार्य है। श्री शर्मा की यह पुस्तक इस दृष्टिकोण से एक आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति करती है और हर प्रकार से प्रोत्साहन की पात्र है। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि उनकी यह पुस्तक सफल हो।

पी० टी० राजू
अध्यक्ष, दर्शन-शास्त्र तथा मनोविज्ञान-विभाग
श्री राजस्थान विश्वविद्यालय तथा
डीन ऑफ़ दी आर्ट्‌स फ़ैकल्टी

जोधपुर

भूमिका

शिक्षा-मनोविज्ञान पर पुस्तक लिखने की प्रेरणा मुझे पहले-पहल (१९४९) में बीकानेर में हुई। 'राजपूताना विश्वविद्यालय' के एक आदेश के अनुसार इन्टरमीडिएट के छात्रों को अपने निर्वाचित विषयों की परीक्षा में अंग्रेज़ी अथवा हिन्दी भाषा में प्रश्नों का उत्तर लिखने का विकल्प दिया गया। अतः मैंने डूँगर कॉलिज, बीकानेर, में छात्रों को 'शिक्षा-मनोविज्ञान' प्रथम वर्ष से हिन्दी में पढ़ाना आरम्भ किया। मैंने अनुभव किया कि इस विषय को हिन्दी भाषा में पढ़ाने से छात्र अधिक प्रभावित होते थे। उनको यह विषय इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि बहुत से छात्र अन्य विषयों को छोड़-छोड़कर, शिक्षा-मनोविज्ञान का विषय लेने लगे। उस वर्ष उससे पहले वर्ष की अपेक्षा, 'शिक्षा-मनोविज्ञान' तथा 'तर्क' का विषय लेने वालों की संख्या तिगुनी से भी अधिक हो गई। ऐसा होना आवश्यक भी था। वास्तव में दुर्भाग्यवश, हमारे देश में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी रहा है, अतः हमारे छात्रों को प्रत्येक विषय परोक्षरूप में पढ़ना पड़ा है। उनको प्रत्येक विषय जानने के लिए पहले एक विदेशी भाषा में प्रवीणता प्राप्त करने की समस्या का सामना करना पड़ा है। इसी कारण आज तक हमारे देश के नवयुवकों के सांस्कृतिक एवं बौद्धिक विकास में बड़ी बाधा पड़ती रही है। इन कठिनाइयों का अनुमान लगाते हुए, हमारे नेताओं ने शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाने का दृढ़ सकल्प किया है। बहुत से विश्वविद्यालयों में बी० ए० तक की परीक्षाओं में निर्वाचित विषयों के प्रश्नों का उत्तर अंग्रेज़ी अथवा हिन्दी में लिखने का विकल्प दिया गया है। मैंने मुख्यरूप से इसी उद्देश्य को सामने रखकर, विशेषकर इन्टरमीडिएट के छात्रों के लिए 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर पुस्तक लिखना आरम्भ किया।

किन्तु जिस समय में इस विषय के भिन्न-भिन्न अंगों पर व्याख्यापूर्वक लिख रहा था, उस समय मैंने यह अनुभव किया कि विषय की व्यापकता का ध्यान रखते हुए इस पुस्तक को केवलमात्र इन्टरमीडिएट के पाठ्यक्रम तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। अतः इस पुस्तक में सब विषयों को विस्तारपूर्वक लिखा गया है और इसमें बी. टी. तथा सी. टी. के पाठ्यक्रम के विषयों को भी सम्मिलित कर उन पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक की भाषा और शैली को सरल-से-सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है ताकि जनसाधारण भी आदि से लेकर अन्त तक इस विषय को बिना किसी कठिनाई के पढ़ सके तथा समझ सके। शिशु के मानसिक विकास का मनोवैज्ञानिक आधार जानना, न केवल अध्यापकों के

लिए अपितु प्रत्येक माता-पिता के लिए भी आवश्यक है। वास्तव में शिशु को जितनी उनके माता-पिता शिक्षा दे सकते हैं, उतनी शिक्षा देने का अवसर उनके अध्यापकों को पाठशाला में नहीं मिल सकता। बेचारे अध्यापक को कुछ ही घण्टों में सैकड़ों छात्रों को शिक्षा देनी पड़ती है, जब कि माता-पिता को केवल अपने ही बच्चों का शिक्षा-भार उठाना पड़ता है। इसलिए यदि माता-पिता घर में भी मनोवैज्ञानिक रीति से बालक को शिक्षा दें और 'मानसिक स्वास्थ्य-विधि' के नियमों पर चलें तो शिशु की शिक्षा अधिक सफल हो सकती है। इस पुस्तक को लिखते समय यह बात ध्यान में रखी गई है कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी व्यवसाय से सम्बन्धित क्यों न हो, इस विषय को समझ सके और उस शिशु के मानसिक विकास में सहायता दे सके, जिस शिशु को भविष्य में स्वतन्त्र भारत का आदर्श नागरिक बनना है। क्योंकि हमारे देश की समृद्धि और उसका उज्ज्वल भविष्य उसकी इस भावी सन्तान की शिक्षा पर निर्भर है; इसलिए शिशु की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार राष्ट्र-निर्माण की प्रथम सीढ़ी है। अतः प्रत्येक देशवासी को जो कि इस राष्ट्र-निर्माण के कार्य में अपना कर्त्तव्य निभाना चाहता है, इस विषय से परिचित होना चाहिए।

क्योंकि शिक्षा-मनोविज्ञान का विषय उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है। अतः इस पुस्तक को लिखते समय आज तक जो प्रगति हुई है, उसका ध्यान रखते हुए आधुनिक मनोवैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर इसके प्रत्येक अंग पर प्रकाश डाला गया है। अध्यायों का क्रम भी इसी उद्देश्य के अनुसार रखा गया है। फिर भी प्रत्येक अध्याय को दूसरे अध्याय से सम्बन्धित रखने का प्रयत्न किया गया है। क्योंकि अभी तक मनो-विज्ञान सम्बन्धी कोई पारिभाषिक शब्दावली निर्धारित नहीं हो सकी है इसलिए पाठकों का इस विषय में लेखक से मतभेद हो सकता है। मेरा मुख्य उद्देश्य तो सरल भाषा में मनोविज्ञान सम्बन्धी विचारों को पाठक तक पहुँचाना है, इसलिए यदि इस पुस्तक के पढ़ने के पश्चात् पाठक को यह विषय समझ में आ जाता है, तो मैं समझूँगा कि पुस्तक ने 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की तथा हिन्दी साहित्य की कुछ सेवा की है।

मैं डॉक्टर छगनलाल जी मेहता बीकानेर-निवासी का, जो कि हिन्दी साहित्य से विशेष प्रेम रखते हैं, आभारी हूँ क्योंकि उनके अनुरोध से ही मैंने यह पुस्तक लिखना आरम्भ किया था। श्री डॉक्कर पी० टी० राजू एम. ए. पी-एच. डी. अध्यक्ष, दर्शन-शास्त्र तथा मनोविज्ञान-विभाग, श्री राजस्थान विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक के लिखने में बहुमूल्य अनुमति दी है; जिसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ। श्री आर० वी० कुम्भारे, प्रिन्सिपल श्री महाराजकुमार कॉलिज, जोधपुर ने इस पुस्तक के संशोधन में अपना अमूल्य समय लगाया है, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। मैं इस पुस्तक की प्रस्तावना को अपनी धर्मपत्नी श्रीमती भाग्य शर्मा बी. ए. मुख्याध्यापिका

राजमहल गर्ल्स मिडल स्कूल, जोधपुर के प्रति सहर्ष कृतज्ञता प्रकट करने के बिना अधूरा समझता हूँ, क्योंकि आदि से लेकर अन्त तक इस पुस्तक को लिखने में उन्होंने सहयोग दिया है।

ग्रंथ के अन्तिम भाग की भाषा को विषय के अनुसार उन्नत करने का श्रेय गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य विद्वान् श्री परम वेदालंकार, एल. टी. को है। इसके लिये मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

जयपुर
२४ सितम्बर, १९५३

—ईश्वरचन्द्र शर्मा

विषय-सूची

आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

मनोविज्ञान का स्थान

गणित-शास्त्र की उत्पत्ति—जिज्ञासा की भावना से पूर्ण यह मनुष्य अपनी उत्सुकता को मूल प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए आदिकाल से ही चेष्टा करता रहा है। इसी उत्सुकता से प्रेरित होकर उसने अपने अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत किया है और इसी के आधार पर उसने भिन्न-भिन्न शास्त्रों का निर्माण किया है। जिस-जिस वस्तु अथवा सिद्धान्त के द्वारा उस के मन में उत्सुकता जाग्रत होती है, उसी वस्तु तथा सिद्धान्त के प्रति उसने अन्वेषण करके, ज्ञान के क्षेत्र में नई-नई विचार-धाराओं का संचार किया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्यमात्र की वैज्ञानिक तथा दार्शनिक प्रगति एवं उन्नति का आधार उत्सुकता ही है। यही कारण था कि प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक एरिस्टाटल (Aristotle) ने कहा था कि 'दर्शन' आश्चर्य का 'शिशु' है। सर्वप्रथम अनादिकाल तथा अनन्त आकाश की जिज्ञासा ने मनुष्य की उत्सुकता को प्रेरित किया। मनुष्य ने अपने समक्ष काल के निरन्तर परिवर्तन का अनुभव किया, क्षण, घड़ियाँ, दिवस, मास और वर्ष व्यतीत होते हुए देखे। इसी प्रकार इसने अपने समक्ष असंख्य नक्षत्रों को आकाश में जगमग करते देखा और अनन्त स्थान का अनुमान लगाने की चेष्टा की। इसी उद्देश्य से उसने गणित-शास्त्र को जन्म दिया। गणित-शास्त्र समय और स्थान का अध्ययन करता है और वह सब शास्त्रों का आधारभूत विज्ञान है। अतः वैज्ञानिक कार्यक्रम में गणित को प्रथम स्थान प्राप्त है।

पदार्थ-विज्ञान तथा जीव-शास्त्र—मनुष्य ने विशाल विश्व का निरीक्षण करते हुए एक नई वस्तु का अनुभव किया। यह वस्तु पदार्थ (Matter) थी। मनुष्य ने पदार्थ रूपी वस्तु का पूर्ण रूप से निरीक्षण करने के लिए पदार्थ-विज्ञान (Physics) की स्थापना की। भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों का निरीक्षण करते हुए मनुष्य ने अनुभव किया कि कुछ पदार्थों में जीव है और कुछ पदार्थ जीव-रहित हैं। इस प्रकार अपने सामने के जीवन को जानने की नई समस्या को सुलझाने के लिए मनुष्य ने जीव-शास्त्र (Biology) का निर्माण किया।

मनोविज्ञान का निर्माण—जीवन का निरीक्षण करते हुए, मनुष्य को प्रतीत हुआ

कि जीवित वस्तुओं में भी भेद है। उसने देखा कि मनुष्य के जीवन में तथा वनस्पति के जीवन में अन्तर है। यदि हम किसी वनस्पति अथवा वृक्ष को सुई से छेदें, तो वह उसका अनुभव नहीं करता और न ही उसे पीड़ा का आभास होता है। इसके विरुद्ध यदि किस मनुष्य को सुई चुभ जाय तो वह चिल्ला उठता है और तुरन्त ही पीड़ा का अनुभव करता है। इसका कारण यह है, कि मानवीय जीवन मन प्रधान है, जब कि वनस्पति जीवन में ऐसा नहीं है। अतः मन अथवा मनोजीवन को जानने की उत्सुकता के कारण ही मनुष्य ने मनोविज्ञान (Psychology) की नींव डाली।

मनोविज्ञान का महत्त्व

मनोविज्ञान की आवश्यकता—मनुष्य पशुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ इसलिए माना जाता है, क्योंकि उसमें विचार-शक्ति और ज्ञान है। ज्ञान के कारण वह अपनी परिस्थितियों का दास नहीं है। ज्ञान के बल-बूते पर उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है। उसने पदार्थ-विज्ञान, तथा रसायन-विज्ञान (Chemistry) के क्षेत्रों में महान् आविष्कार किए हैं। आज मनुष्य कुछ ही घन्टों के अन्दर संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक उड़ान भर सकता है। एक ही क्षण के अन्दर वह सहस्रों मील दूर देश-विदेशों के समाचार तथा संगीत सुन सकता है। यह सब कुछ विज्ञान की देन है। इस से प्रकट होता है कि विज्ञान हमारे जीवन को सुखी बनाता है और उसका जानना हमारे लिए आवश्यक है। किन्तु मनुष्य, जो सब विज्ञानों का निर्माता है, स्वयं भी एक विज्ञान का विषय बन सकता है। मनुष्य के प्रति जो विज्ञान है, उसका जानना अति आवश्यक हो जाता है। अतः मनोविज्ञान, जो मनुष्यों की मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता है, अन्य विज्ञानों की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन में अधिक उपयोगी है। आज यदि सब मनुष्य मनोविज्ञान को यथार्थ रूप में जान जायँ तो संसार से दुःख तथा अशान्ति का लोप हो सकता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनोविज्ञान का ज्ञान लाभदायक है। यदि कोई व्यक्ति एक आदर्श शिक्षक बनना चाहे तो उसको छात्रों की मनोवृत्तियों को समझने के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति वकालत का व्यवसाय अपनाना चाहे तो भी उसको न्यायाधीश पर प्रभाव डालने के लिए तथा न्यायालय में वाद-विवाद के लिए मनोविज्ञान का जानना लाभदायक रहेगा। इसी प्रकार व्यापार के क्षेत्र में भी मनोविज्ञान विशेष महत्त्व रखता है। आधुनिक युग में ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रचार तथा प्रकाशन की आवश्यकता है। उद्योग के क्षेत्रों में भी मजदूरों की समस्याओं को सुलझाने के लिए मनोविज्ञान के जानने की आवश्यकता रहती है। उपरोक्त बातों से सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

मनोविज्ञान की परिभाषा

मनोविज्ञान का शब्दार्थ—मनोविज्ञान, जिसको अंग्रेजी भाषा में साईकोलोजी कहते

हैं, यूनानी भाषा के दो शब्दों 'साइके' (Psyche) तथा 'लोगस' (Logos) का समास है। 'साइके' शब्द का अर्थ है मन अथवा आत्मा और 'लोगस' शब्द का आशय 'शब्द' अथवा बातचीत से है। अतः मनोविज्ञान का अर्थ हुआ मन के प्रति वार्तालाप। किन्तु आधुनिक अंग्रेजी भाषा में जब 'लोगस' (Logos) शब्द का किसी अन्य शब्द से समास किया जाता है, तो उसका अर्थ 'बातचीत' की अपेक्षा 'विज्ञान' समझा जाता है। इस प्रकार साईकालोजी का अर्थ मन के प्रति विज्ञान हुआ।

विज्ञान की व्याख्या—हमने मनोविज्ञान को मन के प्रति बातचीत न कह कर विज्ञान क्यों कहा? इसका कारण यह है कि बातचीत और विज्ञान में बहुत अन्तर है। हमारी बातचीत का आधार एक साधारण ज्ञान पर होता है। साधारण ज्ञान तथा बातचीत का कोई क्रम नहीं होता और न ही वह परिपक्व तथा पूर्ण होती है। विज्ञान एक क्रमपूर्वक, (Systematic) विधियुक्त (Methodical) तथा परिपूर्ण (Exhaustive) ज्ञान को कहते हैं। उदाहरणस्वरूप हम सब मन के प्रति कुछ-न-कुछ जानते हैं और उसके प्रति कुछ बातचीत भी कर सकते हैं, किन्तु हमारा यह सामान्य ज्ञान, क्रमपूर्वक, विधियुक्त और परिपूर्ण नहीं होता। यही कारण है कि हम अपनी सब मानसिक समस्याओं को सुलझा नहीं पाते। क्योंकि मनोविज्ञान, मन का क्रमपूर्वक, विधियुक्त तथा पूर्ण निरीक्षण करता है; इसलिए उसे मन का विज्ञान माना गया है।

प्राकृतिक तथा आदर्शवादी विज्ञान—विज्ञान दो प्रकार के माने जाते हैं प्रथम प्राकृतिक अथवा वास्तविक विज्ञान (Naturalistic or Positive Sciences) और दूसरे आदर्शवादी विज्ञान (Normative Sciences)। प्राकृतिक अथवा वास्तविक विज्ञान अपने विषय की प्रकृति अथवा वास्तविकता की व्याख्या करता है। प्राकृतिक विज्ञान अपने विषय का यथार्थ रूप हमारे सामने रख देता है अर्थात् विषय को जैसा वह है वैसा ही बतलाता है। इसके विरुद्ध आदर्शवादी विज्ञान हमें बतलाता है कि एक विषय को कैसे होना चाहिए। उदाहरण स्वरूप वनस्पति-विज्ञान (Botony) जो कि वनस्पति के विकास तथा उसके मुरझाने की प्रकृति का अध्ययन करता है, एक प्राकृतिक तथा वास्तविक विज्ञान है। किन्तु व्याकरण, जो हमें बतलाता है कि किस प्रकार से बोलना अथवा लिखना चाहिए, एक आदर्शवादी विज्ञान है। क्योंकि मनोविज्ञान मन की वास्तविकता का अध्ययन करता है और हमें बतलाता है कि हम किस प्रकार सोचते हैं, किस प्रकार अनुभव करते हैं और किस प्रकार क्रिया करते हैं; इसलिए यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान एक प्राकृतिक अथवा वास्तविक विज्ञान है। उपरोक्त विश्लेषण से सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान मनके प्रति प्राकृतिक अथवा वास्तविक विज्ञान है।

मनोविज्ञान का विषय—प्रत्येक विज्ञान का अपना-अपना विषय होता है। साधारणतया यह माना गया है कि मनोविज्ञान का विषय मन है। किन्तु हमें मन शब्द

की व्याख्या अवश्य करनी चाहिए। यदि किसी साधारण व्यक्ति से मन का अर्थ पूछा जाय तो वह कहेगा कि मन उस वस्तु को कहते हैं, जो हमारे अन्दर है, वह हमारे लिए विचार करता है, अनुभव करता है तथा संकल्प करता है। वह एक अदृश्य आध्यात्मिक वस्तु है, भौतिक नहीं। अधिक-से-अधिक वह व्यक्ति इतना कह देगा कि मन एक प्रकार का छोटा मनुष्य है अथवा एक भूत है, जो कि हमारे अन्दर रहता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मन की यह व्याख्या पर्याप्त नहीं है। आधुनिक विज्ञान आत्मा तथा मन के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विचार करना, अनुभव करना तथा संकल्प करना मन की विविध क्रियाएँ हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कि इन क्रियाओं से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व रखता हो। मन का वैज्ञानिक अर्थ मनोकार्य अथवा मनोवृत्ति (Mental activity) माना जा सकता है। जिस प्रकार आसन, पीठ, बाजू इत्यादि मिलकर एक कुर्सी बनते हैं, उसी प्रकार विचार करना, अनुभव करना, संकल्प करना, कल्पना करना, श्रवण करना आदि सब मनोक्रियाएँ मिलकर मन का निर्माण करती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में मन अथवा आत्मा का कोई स्थान नहीं है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक (Behaviourist) तो चेतना का अस्तित्व भी नहीं मानते। समय था जब कि मनोविज्ञान को केवल मात्र चेतना का विज्ञान माना जाता था, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में इस परिभाषा का कोई स्थान नहीं है। वास्तव में हमारे मनोजीवन के दो भाग हैं। उसके आन्तरिक भाग को चेतना (Consciousness) तथा बाहरी भाग को व्यवहार (Behaviour) कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप जब कोई व्यक्ति क्रोध करता है, तो उसके मन में जो उत्तेजना का अनुभव होता है उसको क्रोध की चेतना और उसके शरीर में अथवा उसकी आकृति में, जो परिवर्तन होते हैं, उनको शारीरिक व्यवहार (Bodily Behaviour) का नाम दिया जा सकता है। मनोविज्ञान मन के आन्तरिक तथा बाहरी दोनों भागों से सम्बन्धित है। इसलिए हम मनोविज्ञान को केवलमात्र चेतना का शास्त्र नहीं कह सकते।

मन की व्यापकता--इसके अतिरिक्त चेतना केवल जाग्रत अवस्था को ही कहा जाता है। किन्तु मन स्वप्नावस्था में भी कार्य करता रहता है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मन की सब अवस्थाओं से है, चाहे वह चेतन हों, अचेतन हों अथवा अर्ध-चेतन हों। इसी प्रकार मनोविज्ञान बाल्यावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था की मानसिक क्रियाओं को समान दृष्टि से देखता है। मनोविज्ञान में मन शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। मन का अर्थ हमारी सब मनोवृत्तियों अथवा मानसिक क्रियाओं से है। केवल इतना ही नहीं अपितु मनोविज्ञान तो पशुओं की मनोवृत्तियों का भी निरीक्षण करता है। इसके अतिरिक्त असाधारण (Abnormal) मनोवृत्तियाँ भी मनोविज्ञान का विषय हैं। उदाहरणस्वरूप एक विकृत अथवा पागल व्यक्ति का मन भी मनोविज्ञान का विचारणीय विषय बन सकता है।

हर अवस्था में यह स्मरण रखना चाहिए कि मनोविज्ञान, मनोजीवन, के बाहरी तथा आन्तरिक दोनों अंगों से समान सम्बन्ध रखता है। अतः हम न तो मनोविज्ञान को केवलमात्र चेतना तक सीमित रख सकते हैं और न ही उसे केवल शारीरिक व्यवहार का विज्ञान कहकर ही उसकी परिभाषा दे सकते हैं। संक्षेप में, हम मनोविज्ञान को मानसिक क्रियाओं तथा शारीरिक व्यवहार का विज्ञान कह सकते हैं।

मनोविज्ञान की पद्धतियाँ (Methods of Psychology)

तीन मुख्य पद्धतियाँ—प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने विषय को जानने के लिए किसी-न-किसी पद्धति (Method) अथवा रीति का प्रयोग करता है। विज्ञान सामान्य नियमों पर पहुँचने के लिए केवल एक ही नहीं प्रत्युत अनेक पद्धतियों द्वारा अपने विषय की खोज करता है। मनोविज्ञान अन्य शास्त्रों की भाँति एक से अधिक पद्धतियों को अपनाता है। आधुनिक युग में तो भिन्न पद्धतियों के आधार पर मनोविज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाएँ बन गई हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से निम्नलिखित तीन मुख्य पद्धतियों की व्याख्या करना आवश्यक है :—

(क) अन्तरवलोकन अथवा आत्म-निरीक्षण (Introspection)

(ख) निरीक्षण (Observation)

(ग) प्रयोग (Experiment)

आत्म-निरीक्षण की व्याख्या—मानसिक क्रियाओं अथवा मनोवृत्तियों को जानने की सबसे सरल पद्धति आत्म निरीक्षण है। आत्म-निरीक्षण के द्वारा हम अपनी ही मानसिक क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण करते हैं। यह एक प्रकार का अन्तरवलोकन है, जिसके द्वारा हम अपने मन को प्रत्यक्ष जान सकते हैं। यह मन के प्रति प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। आत्म-निरीक्षण के तीन स्तर हैं। प्रथम अथवा साधारण अवस्था में मनुष्य केवल बाह्यात्मक (Objective) दृष्टिकोण को छोड़कर आभ्यन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण से मानसिक क्रिया का निरीक्षण करता है। उदाहरण के तौर पर जब एक व्यक्ति समुद्र की तरंगों को देख रहा हो तब ऐसा करते हुए, उस व्यक्ति को इस बात का आभास हो जाय कि वह उस समय ऐसा कर रहा है, तो उसे आत्म-निरीक्षण की पहली अवस्था में समझना चाहिए। यदि वह मनुष्य समुद्र की तरंगों को देखते हुए, अपने मन से ऐसा प्रश्न करने लगे कि वह तरंगों को क्यों देख रहा है, तो वह आत्मनिरीक्षण की द्वितीय अथवा तार्किक अवस्था में चला जाता है। आत्म-निरीक्षण की तृतीयावस्था वैज्ञानिक अवस्था है। इस अवस्था में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किसी लक्ष्य को सामने रखकर, विशेष परिणाम पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं (Psychological laboratories) में वैज्ञानिक आत्म-निरीक्षण का प्रयोग किया जाता है।

आत्म-निरीक्षण के दोष—आत्म-निरीक्षण चिरकाल से मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण पद्धति मानी जाती है। किन्तु आधुनिक समय के वैज्ञानिकों ने इस पद्धति पर बहुत कटाक्ष किया है। आत्म निरीक्षण पर तीन मुख्य आरोप लगाए गए हैं। सर्वप्रथम यह कहा गया है कि आत्म-निरीक्षण हमें व्यक्तिगत अनुभव देता है, जब कि प्रत्येक विज्ञान विषयगत (Objective) अनुभव को सर्वोत्तम मानता है। व्यक्तिगत तथा आभ्यन्तरिक होने के कारण आत्म-निरीक्षण वैज्ञानिक पद्धति नहीं मानी जा सकती। आत्म-निरीक्षण पर दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि जिस समय भिन्न-भिन्न व्यक्ति अथवा मनोवैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग करते हैं तो उनके परिणामों में भी भिन्नता होती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक पद्धति को सामान्य नियम प्राप्त करने चाहियें। अतः आत्म-निरीक्षण इस दृष्टिकोण से भी मनोवैज्ञानिक पद्धति नहीं हो सकता। सबसे बड़ा आरोप, जो आत्म-निरीक्षण पर लगाया जाता है, यह है कि आत्म-निरीक्षण एक असम्भव बात है। जब हमारा मन एक समय एक ही मानसिक प्रक्रिया का अनुभव कर रहा हो, तो उसी समय हम, उसी मानसिक प्रक्रिया का आत्म-निरीक्षण नहीं कर सकते। ऐसा करने की चेष्टा करना, मन को दो भागों में बाँटने की चेष्टा करना है। एक भाग तो वह, जो कि मानसिक प्रक्रिया का अनुभव करे और दूसरा वह जो कि आत्म-निरीक्षण करे; किन्तु ऐसा होना असम्भव है अतः आत्म-निरीक्षण पद्धति का अस्तित्व ही नहीं है।

अनिवार्य पद्धति—इन आक्षेपों के होते हुए भी हम आत्म-निरीक्षण को मनोविज्ञान की पद्धति के रूप में अस्वीकार नहीं कर सकते। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से प्रतीत होगा कि ये सब आक्षेप निरर्थक हैं। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिक आत्म-निरीक्षण का प्रयोग इसलिए नहीं करता कि उसका दृष्टिकोण संकुचित है अथवा वह स्वार्थी है। मनोविज्ञान का विषय ही ऐसा है कि मनोवैज्ञानिक को विवश होकर अपनी अन्तर्गत मानसिक प्रक्रिया का निरीक्षण करना पड़ता है। क्योंकि मन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका बाह्य-जगत् में निरीक्षण किया जा सके, अतः मनोविज्ञान में सिवाय आभ्यन्तरिक दृष्टिकोण के अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं, जिसके द्वारा मन के प्रति प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाय। आत्म-निरीक्षण के अतिरिक्त, जितनी भी मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं, वे मानसिक जीवन के प्रति हमें परोक्ष (Indirect) ज्ञान देती हैं। अतः आत्म-निरीक्षण मनोविज्ञान में यदि अद्वितीय नहीं तो कम-से-कम एक आवश्यक और अनिवार्य पद्धति अवश्य है।

अनुभव की समानता—इसके अतिरिक्त आत्म-निरीक्षण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी अछूता माना जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि बाल की खाल उतारी जाय तो आत्म-निरीक्षण के परिणाम एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होते हैं। एक मनोवैज्ञानिक यदि आत्म-निरीक्षण के द्वारा अपने प्रातःकाल के भोजन का प्रत्याह्वा (Recall) करते हुए एक दूध के पात्र का चित्र अपने मन में देखता है, तो दूसरा मक्खन

व लस्सी का चिन्तन करता है और तीसरे के मन में चाय की प्याली का चित्र अंकित हो जाता है; तो भी इस उदाहरण में, यदि उदारता से देखा जाय, तो एक दूसरे के अनुभव में कोई विशेष भिन्नता प्रतीत नहीं होगी। कम-से-कम इस बात में तो सब सहमत होंगे कि कोई-न-कोई चित्र मन में अवश्य दृष्टिगोचर होता है। अतः आत्म-निरीक्षण के द्वारा एक दूसरे के अनुभव की तुलना करते हुए हम सामान्य नियमों पर पहुँच सकते हैं।

पुनरवलोकन—अन्त में आत्म-निरीक्षण पर मन को दो भागों में बाँटने का जो आरोप लगाया गया है; उसका प्रतिकार भी बताया जा सकता है। इस दोष का उपाय यह है कि जिस समय हम किसी मानसिक प्रक्रिया का अनुभव कर रहे हों, तो उसी समय आत्म-निरीक्षण नहीं करना चाहिए। जब हम उस मानसिक प्रक्रिया का अनुभव कर चुकें, तो हम उसका प्रत्याह्वान करते हुए आत्म-निरीक्षण का प्रयोग कर सकते हैं। अतः आत्म-निरीक्षण को पुनर्निरीक्षण अथवा पुनरावलोकन (Retrospection) द्वारा दोष-रहित बनाया जा सकता है।

निरीक्षण—संसार के जितने भी विज्ञान हैं, वे सब निरीक्षण-पद्धति का प्रयोग करते हैं। मनोविज्ञान भी एक शास्त्र होने के नाते निरीक्षण का आश्रय लेता है। अन्य शास्त्रों के विषय तो प्रत्यक्ष रूप में जाने जा सकते हैं, क्योंकि उनके विषय प्रायः बाह्यगत होते हैं। मनोविज्ञान का विषय आभ्यन्तरिक होने के कारण प्रत्यक्ष रूप में निरीक्षण द्वारा नहीं जाना जा सकता, इसलिए मनोवृत्तियों का केवल बाह्यगत शारीरिक व्यवहार के द्वारा ही निरीक्षण किया जा सकता है। अतः मनोविज्ञान में निरीक्षण का अर्थ, 'शारीरिक व्यवहार का निरीक्षण' ही समझना चाहिए। जब हम किसी व्यक्ति विशेष को ऐसी अवस्था में देखते हैं, जिसमें कि वह विशेष शारीरिक व्यवहार दिखाता है, तो हम उसके अनुसार उसकी मानसिक प्रक्रिया को जान जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब एक व्यक्ति भृकुटि चढ़ाए, दाँत पीसते, तथा मुक्का ताने हुए दिखाई देता है तो उसके इस व्यवहार का निरीक्षण करके हम अनुमान लगाते हैं कि इस समय वह क्रोध की अवस्था में है।

निरीक्षण के दोष—निरीक्षण-पद्धति एक बाह्यात्मक पद्धति है। आत्म-निरीक्षण पर जो आभ्यन्तरिक होने का आरोप लगाया गया है, मनोविज्ञान में निरीक्षण-पद्धति का प्रयोग उसका एक प्रतिकार है। निरीक्षण-पद्धति के कारण ही मनोविज्ञान को अन्य भौतिक शास्त्रों के समान स्थान दिया गया है। अतः निरीक्षण-पद्धति मनोविज्ञान के लिए आवश्यक है। किन्तु इस पद्धति में त्रुटियाँ अवश्य हैं। प्रथम निरीक्षण करते समय हम भूल कर सकते हैं। सम्भव है, मैं किसी पीली तथा गोल वस्तु को दूर से देखकर अनुमान लगा लूँ कि मैं नारंगी का फल देख रहा हूँ, किन्तु निकट जाने पर ज्ञान होता है कि वास्तव में वह एक मिट्टी का खिलौना है। निरीक्षण करते समय हम अपने दृष्टिकोण के अनुसार भी भूल कर सकते हैं। मान लो कि एक पक्षी वृक्ष की शाखा पर बैठा गा रहा

है। एक नमाज़ी मुसलमान यह समझता है कि वह पक्षी खुदा को याद करता हुआ कह रहा है—'सुबहान तेरी कुदरत।' इसी प्रकार एक रामभक्त हिन्दू समझता है कि पक्षी 'सीताराम दशरथ' की रट लगा रहा है। उसी पक्षी का गाना सुनकर एक साधारण दुकानदार यह समझता है कि पक्षी उसकी वस्तुओं का प्रचार कर रहा है और लोगों को सुना रहा है, 'नून-तेल-अदरक'। इसी भाँति एक पहलवान समझता है कि—पक्षी सब को आदेश दे रहा है कि 'खा घी कर कसरत।' इसका अभिप्राय यह है कि हमारा निरीक्षण, हमारे दृष्टिकोण के अनुसार होता है। 'सावन के अन्धे को हरा-ही-हरा दीखे' वाली लोकोक्ति निरीक्षण-पद्धति पर लागू होती है; इसका कारण यह है कि हमारी मानसिक अवस्था सर्वदा, हमारी क्रियाओं पर प्रभाव डालती है। यदि हमारा चित्त प्रसन्न हो तो हमें चारों ओर प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता दीखती है और यदि हमारी मानसिक अवस्था स्वस्थ नहीं है, तो संसार भी अस्वस्थ प्रतीत होता है। इसी विचार की पुष्टि करते हुए, एक उर्दू के कवि ने कहा है—

> "दिल गुलिस्ताँ था तो हर शै से टपकती थी बहार।
> दिल बियाबाँ हो गया आलम बियाबाँ हो गया॥"

यही कारण है कि निरीक्षण हमारी मानसिक अवस्था से प्रभावित होता है।

प्रतिकार—किन्तु इन सब त्रुटियों का अभ्यास तथा धैर्य से निवारण किया जा सकता है। निरीक्षण करते समय हमें चेतन और सावधान रहना चाहिए। हमें निष्पक्ष होकर वस्तु-विशेष के आवश्यक अंगों का भली प्रकार अवलोकन करना चाहिए और अनावश्यक अंगों को छोड़ देना चाहिए। निरीक्षण के बारे में यह कहा जा सकता है कि इस पद्धति से परोक्ष रूप में आत्म-निरीक्षण का प्रयोग होता है। उदाहरणस्वरूप जब हम किसी व्यक्ति को एक विशेष अवस्था में देखते हैं तो हम अपने मन में कुछ इस ढंग से तर्क-वितर्क करते हैं—'जब मैं इस विशेष अवस्था में होता हूँ तो उस समय मेरा मन क्रोध का अनुभव करता है, क्योंकि यह व्यक्ति उसी अवस्था में है, अतः इस व्यक्ति का मन इस समय क्रोध का अनुभव कर रहा है।' इससे यह सिद्ध होता है कि निरीक्षण को परोक्ष रूप में आत्म-निरीक्षण का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि निरीक्षण-पद्धति के कारण ही मनोविज्ञान एक परिपूर्ण विज्ञान माना जाता है। निरीक्षण बाह्यात्मक-पद्धति होने के कारण आत्म-निरीक्षण की संकुचितता तथा आभ्यन्तरिक होने की त्रुटियों का निवारण करता है। इस प्रकार आत्म-निरीक्षण तथा निरीक्षण पद्धतियाँ अन्योन्याश्रित (Inter-dependent) तथा परस्पर सम्बन्धित (Inter-related) हैं।

प्रयोग-पद्धति (Experimental Method)

प्रयोग की व्याख्या—प्रयोग-पद्धति सब विज्ञानों में प्रयुक्त होती है। प्रयोग एक

प्रकार का निरीक्षण है जो विशेष अवस्थाओं में किया जाता है। प्रयोग में निरीक्षण करते समय अवस्था का नियन्त्रण (Control) किया जाता है। प्रयोग के द्वारा निरीक्षण में कोई त्रुटि नहीं रहती और निरीक्षण स्पष्टतापूर्वक होता है। साधारण निरीक्षण में बहुत सी बातें अस्पष्ट रह जाती हैं। इस विचार को और भी स्पष्ट करने के लिए हमें एक उदाहरण लेना चाहिए। यदि हम साधारण निरीक्षण करें और समान वजन में सिक्के और पक्षी के परों (Feathers) को हवा में छोड़ दें तो प्रतीत होगा कि सिक्का परों की अपेक्षा पृथ्वी को शीघ्रतापूर्वक स्पर्श करता है। प्रश्न यह होता है कि जब दोनों वस्तुओं का वजन समान है तो दोनों एक ही समय पर पृथ्वी को स्पर्श क्यों नहीं करते ? इसका कारण केवल यह है कि हमने इन दो वस्तुओं का साधारण अवस्था में निरीक्षण किया। यदि हम इस समस्या की व्याख्या करने के लिए प्रयोग के द्वारा वास्तविकता जानना चाहें तो यह असमानता स्पष्ट हो जायगी। यदि इन दोनों वस्तुओं को एक ऐसी बड़ी बोतल में डाल दिया जाय, जिसमें हवा न हो तो उस बोतल को एकदम उलटने पर सिक्का और पर एक साथ पृथ्वी पर गिरेंगे। इससे यह स्पष्ट हुआ कि बोतल के बाहर हवा के कारण ही सिक्के की अपेक्षा पर देरी से पृथ्वी को स्पर्श करते थे। हमारा पहला निरीक्षण साधारण निरीक्षण था और दूसरा निरीक्षण विशेष निरीक्षण अथवा प्रयोग था।

मनोवैज्ञानिक प्रयोग—अतः वास्तविकता को जानने के लिए प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र में प्रयोग-पद्धति का आश्रय लेता है। क्योंकि प्रत्येक विज्ञान का विषय भिन्न होता है इसलिए हर विज्ञान में प्रयोग भी भिन्न प्रकार का होता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोग एक ऐसा प्रयोग है, जिसमें कम-से-कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। एक तो वह व्यक्ति जो प्रयोग करने वाला हो, उसे हम प्रयोगकर्त्ता अथवा प्रयोक्ता (Experimenter) कहते हैं; दूसरा वह व्यक्ति, जिस पर कि प्रयोग किया जाता है। इस व्यक्ति को हम अनुभव-कर्त्ता अथवा विषय (Subject) कहते हैं। मनोवैज्ञानिक प्रयोग में, प्रयोगकर्त्ता विशेष अवस्थाओं का निर्माण करता है और अनुभवकर्ता को विशेष प्रकार से समझाता है। अनुभवकर्त्ता अथवा विषय, प्रयोग के पश्चात् अपने मन की उस अवस्था को बतलाता है, जिसको उसने अनुभव किया हो। और प्रयोगकर्त्ता अनुभव-कर्त्ता अथवा विषय के शारीरिक व्यवहार का निरीक्षण करता है। दूसरे शब्दों में, अनुभवकर्ता आत्म-निरीक्षण पद्धति का आश्रय लेता है तथा प्रयोग-कर्ता बाह्यात्मक निरीक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में मनोवैज्ञानिक प्रयोग एक प्रकार का आत्म-निरीक्षण तथा बाह्यात्मक निरीक्षण दोनों का सम्मिश्रण है।

प्रतिक्रियाकालिक प्रयोग—मनोविज्ञान में बहुत से प्रयोग किए गये हैं। उनमें से प्रतिक्रियाकालिक प्रयोग (Reaction time experiment) एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग में अनुभवकर्त्ता को कहा जाता है कि वह अपनी दो उंगलियों को

को इने स्थानों पर रखें, जिनके नीचे बिजली का यन्त्र लगा होता है। उससे कहा जाता है कि जब उसे विशेष प्रकार का संकेत (Signal) दिया जाय तो वह अमुक उंगली उठाए। संकेत के प्राप्त करने में तथा उंगली के उठाने में जितना समय लगता है उसका एक विशेष प्रकार की घड़ी के द्वारा पता चल जाता है। इतने समय में प्रयोगकर्त्ता अनुभव करने वाले के शारीरिक व्यवहार का निरीक्षण कर चुका होता है। प्रयोग के पश्चात् अनुभवकर्त्ता अपने मन की अवस्था का वर्णन करता है। इन विशेष साधनों के द्वारा मनोविज्ञान में प्रतिक्रिया के सामान्य नियमों पर काफी प्रकाश पड़ता है।

प्रयोग की समालोचना—प्रयोग-पद्धति मनोविज्ञान में सब से उच्च स्थान रखती है। न केवल मनुष्यों पर बल्कि छोटे बच्चों पर और पशुओं पर भी प्रयोग किए गये हैं। संसार के प्रगतिशील देशों में स्थान-स्थान पर मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ हैं। मनोवैज्ञानिक विषयों पर खोज जारी है और प्रतिदिन मनोविज्ञान का क्षेत्र बढ़ता चला जा रहा है। यह सब प्रयोग-पद्धति की कृपा है कि आज मनोविज्ञान अन्य भौतिक विज्ञानों के समान एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान बन गया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य पद्धतियाँ अनावश्यक हैं। यदि देखा जाय तो प्रयोग पद्धति को भी परोक्ष रूप में आत्म-निरीक्षण का आश्रय लेना पड़ता है। प्रयोग के पश्चात् जिस समय अनुभवकर्त्ता अपने मन की अवस्था का वर्णन करता है, उस समय उसको आत्म-निरीक्षण पर निर्भर रहना पड़ता है। अपने-अपने स्थान पर आत्म-निरीक्षण, निरीक्षण तथा प्रयोग, तीनों पद्धतियाँ महत्त्व रखती हैं और तीनों ही मनोविज्ञान की मुख्य पद्धतियाँ मानी जाती हैं।

शिक्षा में मनोविज्ञान का स्थान

मनोविज्ञान की उन्नति—आधुनिक युग में, विशेषकर गत पचास वर्षों में, मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका है। उसमें प्रत्येक वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया है और प्रत्येक विषय पर खोज की गई है। अब मनोविज्ञान न केवल एक सैद्धान्तिक (Theoretical) विज्ञान है, अपितु वह हमारे जीवन के प्रत्येक अंग पर व्यवहारिक रूप में उपयुक्त किया गया है। इसी कारण मनोविज्ञान अनेक शाखाओं में प्रस्फुटित हो गया है। इन शाखाओं का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा, किन्तु इस स्थान पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिकों ने शिशुओं और बालकों पर प्रयोग करके अनेक शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। बालकों के बौद्धिक विकास का विशेष अध्ययन किया गया है, जिसके फलस्वरूप शिक्षा-पद्धति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं। इसी प्रकार शिशु की गुप्त शक्तियों पर, विशेषकर उसकी मूल प्रवृत्तियों की उपयोगिता पर प्रकाश डालकर भी मनोविज्ञान ने शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इन्हीं कारणों से संसार के प्रगतिशील देशों में शैशवावस्था से ही मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा दी जाती है।

शिक्षा में मनोविज्ञान का विरोध—एक समय था, जब कि शिक्षा में मनोविज्ञान का कोई स्थान नहीं था। शिक्षक के लिए मनोविज्ञान का जानना आवश्यक नहीं था। भय तथा दण्ड को ही केवल मात्र शिक्षा का साधन समझा जाता था। आधुनिक काल में भी बहुत से विद्वानों ने मनोविज्ञान को शिक्षा का आधार मानने में संकोच किया है। उनका कहना है कि मनोविज्ञान का शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के चरित्र का निर्माण करना है। शिक्षक एक निर्माता और कलाकार है। उसका मुख्य कार्य छात्रों के जीवन को उच्च आदर्श पर चलाना है। किन्तु मनोविज्ञान का दृष्टिकोण आदर्शवादी नहीं है। मनोविज्ञान केवल एक प्राकृतिक अथवा वास्तविक (Positive) शास्त्र है। मनोविज्ञान छात्रों की मानसिक अवस्था की व्याख्या करता है, जब कि शिक्षा-विज्ञान छात्रों को आदर्शवादी (Ideal) दृष्टिकोण से शिक्षित करता है। अतः शिक्षा और मनोविज्ञान में बहुत अन्तर है। शिक्षा का दृष्टिकोण रचनात्मक (Creative) है, जब कि मनोविज्ञान विश्लेषणात्मक अथवा विच्छेदनात्मक (Analytic) है। इसके अतिरिक्त शिक्षा-मनोविज्ञान पर कटाक्ष करने वालों ने यह भी कहा है कि मनोविज्ञान का अध्ययन करना एक शिक्षक के लिए लाभदायक होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध होता है। उनके विचार में जब शिक्षक मनोवैज्ञानिक समस्याओं में उलझ जाता है तो वह छात्रों को सफलतापूर्वक शिक्षा नहीं दे सकता। मनोविज्ञान में मग्न हो जाने के कारण शिक्षक कर्त्तव्य-हीन हो जाता है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा और मनोविज्ञान को एक दूसरे से पृथक् रखना आवश्यक है।

शिक्षा-मनोविज्ञान की उपयोगिता—किन्तु ये कटाक्ष केवल इतना ही बतलाते हैं कि शिक्षक को मनोवैज्ञानिक समस्याओं में इतना लीन नहीं हो जाना चाहिए कि वह अपने रचनात्मक कार्य को भी भूल जाय। इससे यह परिणाम कदापि नहीं लगाया जा सकता कि शिक्षक मनोविज्ञान से बिलकुल अनभिज्ञ हो। मनोविज्ञान का ज्ञान शिक्षक के रचनात्मक कार्य करने के रास्ते में बाधा नहीं डाल सकता। इतिहास में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं, जिससे यह सिद्ध हो कि एक मनोवैज्ञानिक अच्छा शिक्षक नहीं हो सकता। इसके विपरीत बहुत से ऐसे मनोवैज्ञानिक हुए हैं, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय और सफल प्रयोग किए हैं। अतः मनोविज्ञान शिक्षक के लिए कदापि हानिकारक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त विद्वानों की खोज ने यह सिद्ध किया है कि शिक्षक के लिए मनोविज्ञान का जानना, केवल आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षक का मुख्य उद्देश्य समाज और संस्कृति के आदर्शों के अनुसार छात्रों के चरित्र का निर्माण करना है। शिक्षक को शिक्षा देते समय किन आदर्शों पर चलना चाहिए, यह बात उसे समाज, संस्कृति, राष्ट्रीयता तथा इतिहास बतायेंगे। किन्तु ऐसे आदर्शों को समझाने के लिए, तथा उन आदर्शों के आधार पर छात्रों के चरित्र का

निर्माण करने के लिए, किन साधनों का प्रयोग किया जाए, यह बात शिक्षक को मनोविज्ञान से जाननी होगी। उच्च आदर्शों को छात्रों के सामने रखने से पहले शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह छात्रों की योग्यता को जानता हो और उनके मानसिक तथा शारीरिक विकास के नियमों का ज्ञान रखता हो। मनोविज्ञान के द्वारा शिक्षक छात्रों को अपने दृष्टिकोण की ओर आकर्षित कर सकता है और विशेष साधनों द्वारा छात्रों की अवगुंठित प्रवृत्तियों का विकास करा सकता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु मनोविज्ञान जानने से शिक्षक केवल भय और दण्ड को ही शिक्षा देने का साधन नहीं मानता। शिक्षा-मनोविज्ञान में प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि एक बालक जितना बुद्धिमान होगा, वह उतना ही कोमल हृदय वाला भी होगा। यदि शिक्षक मनोविज्ञान के अभाव के कारण ऐसी कोमल वृत्ति वाले बालक के साथ कठोरता का व्यवहार करता है, तो वह बालक के बौद्धिक विकास पर कुठाराघात करता है। इसी प्रकार बालक की मूल प्रवृत्तियों का दमन करना, उसकी क्रीड़ा में बाधा डालना, उसकी रुचि के विरुद्ध, उसे परिश्रम करने के लिए विवश करना, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बालक के मानसिक तथा शारीरिक विकास को हानि पहुँचाना है। शिक्षक ये सब बातें तभी जान सकता है, जब वह मनोविज्ञान के सामान्य नियमों को जानता हो। वास्तव में, शिक्षा और मनोविज्ञान में घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण अध्यापकों को, शिक्षा देने वाले महाविद्यालयों में शिक्षा-मनोविज्ञान एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान के विषय में प्रवेश से पहले सामान्य मनोविज्ञान (General psychology) तथा उसकी शाखाओं के प्रति कुछ व्याख्या करना आवश्यक है। मनोविज्ञान की सब शाखाएँ प्रायः परस्पर सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित हैं। इसलिए बालक के मनोविकास के सामान्य नियमों को भलीभाँति समझने के लिए हम अगले अध्याय में मनोविज्ञान की शाखाओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

अभ्यास

१. मनोविज्ञान की उत्पत्ति कैसे हुई ?
२. मनोविज्ञान की परिभाषा देते हुए उसके विषय पर प्रकाश डालो।
३. आत्म-निरीक्षण क्या है ? उसकी मुख्य त्रुटियाँ कौन-कौन-सी हैं और उनकी पूर्ति कैसे हो सकती है ?
४. निरीक्षण-पद्धति के प्रति तुम क्या जानते हो ? मनोविज्ञान में बाह्यात्मक-निरीक्षण का का क्या स्थान है ?
५. प्रयोग किसे कहते हैं ? मनोवैज्ञानिक प्रयोग की क्या विशेषता है और मनोविज्ञान का विषय कहाँ तक प्रयोग के द्वारा जाना जा सकता है ?
६. शिक्षा में मनोविज्ञान का क्या महत्त्व है ?

दूसरा अध्याय

मनोविज्ञान की शाखाएँ

मनोविज्ञान का विस्तार—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मनोविज्ञान एक प्रगतिशील विज्ञान है। शैशवकाल में होते हुए भी, इस विज्ञान ने प्रयोग के क्षेत्र में एक अद्वितीय उन्नति की है। समय था जब कि मनोविज्ञान को दर्शन (Philosophy) का अंग समझा जाता था और दार्शनिकों द्वारा ही यह विज्ञान पढ़ाया जाता था। किन्तु बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही इसने पितापूर्वी गृह को त्यागकर सामान्य विज्ञानों के क्षेत्र में प्रवेश किया। आज देश-देशान्तर में मनोविज्ञान की बड़ी-बडी प्रयोगशालाएँ स्थापित हो चुकी हैं और बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, चिकित्सा-मनोविज्ञान अर्थात् मनोविज्ञान के अंग-अंग पर गवेषणा (Research) जारी है। कुछ ही वर्षों के समय में, इस विज्ञान के अनेक विभाग हो चुके हैं और इन विभागों की भी अनेक शाखाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं। यों तो मनोविज्ञान की बहुत सी शाखाएँ हैं, किन्तु उनमें से मुख्य निम्न-लिखित हैं :

१. सामान्य मनोविज्ञान (General psychology)।
२. पशु-मनोविज्ञान (Animal psychology)।
३. तुलनात्मक-मनोविज्ञान (Genetic or comparative psychology)।
४. वैयक्तिक-मनोविज्ञान (Individual psychology)।
५. सामाजिक-मनोविज्ञान (Social psychology)।
६. मनोविश्लेषण अथवा विश्लेषण-मनोविज्ञान (Psycho-analysis)।
७. असामान्य-मनोविज्ञान (Abnormal psychology)।
८. चिकित्सा-मनोविज्ञान (Medical psychology)।
९. बाल-मनोविज्ञान। (Child Phychology)।
१०. उद्योग-मनोविज्ञान। (Industrial Phychology)।
११. वाणिज्य-मनोविज्ञान। (Commercial Phychology)।
१२. शिक्षा-मनोविज्ञान। (Educational Phychology)।

मनोविज्ञान की उपरोक्त शाखाओं अथवा विभागों की व्याख्या उल्लेखनीय है। अतः हम इन सब शाखाओं की क्रमिक विवेचना करेंगे।

सामान्य मनोविज्ञान—वास्तव में हम सामान्य मनोविज्ञान को एक शाखा नहीं कह सकते, बल्कि मनोविज्ञान के अन्य विभागों को सामान्य-मनोविज्ञान की शाखाएँ मान

सकते हैं। सामान्य मनोविज्ञान विशेषतया सैद्धान्तिक (Theoretical) है, जब कि मनोविज्ञान की अन्य शाखाएँ व्यावहारिक (Practical) महत्त्व रखती हैं। सामान्य मनोविज्ञान सामान्य दृष्टिकोण से व्यक्ति की मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है और मानसिक प्रक्रिया (Mental processes) के सामान्य नियमों की स्थापना करता है। यह विज्ञान ध्यान (Attention), प्रत्यक्ष-ज्ञान (Perception), कल्पना (Imagination), स्मृति (Memory), विचार(Thinking), संवेग (Emotion) इत्यादि मनोवृत्तियों की पूरी व्याख्या करता है। इस विज्ञान का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के मानसिक जीवन का पूर्ण अध्ययन करना है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सामान्य मनोविज्ञान को शरीर-विज्ञान (Physiology) तथा समाज-विज्ञान (Sociology) की सहायता लेनी पड़ती है। शरीर-विज्ञान व्यक्ति के प्रत्येक शारीरिक अंग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विस्तार पूर्वक अध्ययन करता है। इसके विरुद्ध समाज-शास्त्र व्यक्ति को सामूहिक दृष्टिकोण से जानने की चेष्टा करता है। ये दोनों विज्ञान व्यक्ति से अवश्य सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु शरीर-विज्ञान व्यक्ति के अंग-अंग की व्याख्या करता है, जबकि समाज-शास्त्र व्यक्ति को समाज में विलीन कर देता है। सामान्य मनोविज्ञान मध्यम मार्ग पर चलता है और व्यक्ति के व्यवहार को इसी मध्यम दृष्टिकोण से जानने का प्रयत्न करता है। इसी कारण सामान्य-मनोविज्ञान को शरीर-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र के बीच का स्थान दिया गया है।

पशु-मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की यह शाखा, कुछ ही वर्ष पूर्व अस्तित्व में आई है। प्राचीन दार्शनिकों ने मनोविज्ञान को केवल मनुष्य तक ही सीमित कर रखा था। किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने पशुओं की मनोक्रिया का अध्ययन करके मनोविज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत किया है। पशु-मनोविज्ञान ने पशुओं पर प्रयोग करके सहज क्रियाओं (Reflex actions) मूल प्रवृत्तियों तथा सीखने इत्यादि की मानसिक प्रवृत्तियों पर काफी प्रकाश डाला है। पशु-मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग-पद्धति को सफल बनाने वालों में से श्री थौर्नडाईक (Thorndike) और श्री पैवलाव (Pavlov) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके कार्य की विस्तारपूर्वक व्याख्या आगे चल कर दी जायेगी। मनोविज्ञान की इस शाखा ने स्थान-स्थान पर प्रयोगशालाओं को जन्म दिया है। वंशानुक्रम अथवा पैतृकता (Heredity) तथा परिस्थिति अथवा वातावरण (Environment) की समस्याओं को सुलझाने के लिए भी चूहों इत्यादि पर प्रयोग किए गये हैं।

तुलनात्मक मनोविज्ञान—इस मनोविज्ञान का लक्ष्य मनोविकास का क्रमपूर्वक अध्ययन करना है। इसमें मनोवैज्ञानिक शिशु की तथा पशुओं की मनोवृत्तियों का निरीक्षण करके उनकी प्रौढ़ व्यक्ति की मनोवृत्तियों से तुलना करता है। मनोविज्ञान की इस शाखा के द्वारा हम मनुष्य तथा पशु की मानसिक प्रक्रिया (Mental processes)

की समानता तथा विभिन्नता को भलीभाँति जान सकते हैं। तुलनात्मक मनोविज्ञान शिशु के मनोविकास का आदिकाल से अध्ययन करता है और उसके शारीरिक तथा मानसिक व्यवहार को लिखित रूप में सुरक्षित रखता है। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है उसकी मनोक्रियाएँ अधिक जटिल होती जाती हैं। तुलनात्मक मनोविज्ञान शिशु के इस परिवर्तन का क्रमशः ध्यानपूर्वक अध्ययन करता है।

वैयक्तिक मनोविज्ञान—जैसा कि इस शाखा का नाम स्पष्ट करता है, वैयक्तिक मनोविज्ञान हमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के व्यवहार में असमानता तथा अन्तर बतलाता है। प्रकृति ने प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न रुचि तथा भिन्न-भिन्न मात्रा में मनोवृत्तियाँ तथा शारीरिक वृत्तियाँ प्रदान की हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक ही परिस्थिति में भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। अतः वैयक्तिक मनोविज्ञान ने बहुत से प्रयोगों के पश्चात् व्यक्तिगत विभिन्नता (Individual differences) के आधार पर सब व्यक्तियों को कई श्रेणियों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणस्वरूप स्मृति (Memory) में, अनेक प्रयोग करने के पश्चात्, मनुष्यों को चार वर्गों में बाँटा गया है।

१. दृश्यात्मक प्रकार की स्मृति (Visual type of memory)।
२. श्रवणात्मक प्रकार की स्मृति (Auditory type of memory)।
३. स्पर्शात्मक प्रकार की स्मृति (Tactud type of memory)।
४. मिश्रित प्रकार की स्मृति (Mixed type of memory)।

श्रवणात्मक प्रकार की—स्मृति वाले व्यक्ति केवल कानों से सुनी हुई वस्तुओं का तथा घटनाओं को भलीभाँति स्मरण रखते हैं, जब कि देखी हुई वस्तुओं या घटनाओं को भूल जाते हैं। इसी भाँति स्पर्शात्मक प्रकार के स्मृति रखने वाले व्यक्तियों की स्मरण-शक्ति स्पर्श की हुई वस्तुओं तक सीमित होती है। किन्तु अधिक संख्या उन व्यक्तियों की है जो सुनी हुई, देखी हुई तथा स्पर्श की हुई, सब वस्तुओं को समानतया स्मरण रखते हैं। ऐसे मनुष्यों की स्मृति मिश्रित प्रकार की होती है। वैयक्तिक मनोविज्ञान ने इसी प्रकार के व्यक्तियों में अन्तर तथा विभिन्नता के प्रति प्रयोग करके बहुत सी मनोवृत्तियों पर प्रकाश डाला है।

सामाजिक मनोविज्ञान—यह मनोविज्ञान सामूहिक मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है। मनुष्य सामाजिक पशु माना गया है। उसका अस्तित्व समाज पर निर्भर है। उसकी कला का व्यक्तित्व सामाजिक वातावरण से प्रभावित होकर विकसित होता है। अतः सामाजिक मनोविज्ञान समाज विकास तथा सामाजिक मनोवृत्तियों के महत्त्व की व्याख्या करता है। इस शाखा में भी प्रयोग-पद्धति को अपनाने की खोज की गई है और प्रगतिशील देशों में इस शाखा का अध्ययन दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है।

मनोविश्लेषण—यह शाखा आधुनिक मनोविज्ञान की विशेष देन है। इसके

निर्माता आस्ट्रिया के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर फ्रायड (Dr. Freud) माने जाते हैं। अनुभव और प्रयोग के पश्चात् उन्होंने सिद्ध किया है कि केवल चेतना ही हमारी समस्त मानसिक क्रियाओं की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं है। हमारी बहुत सी ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जो चेतना के क्षेत्र से बाहर हैं; जैसे कि स्मृति, स्वप्न इत्यादि। अतः मन का विश्लेषण करने के पश्चात् उनको चेतन (Consciousness) अर्ध-चेतन (Semi-consciousness) तथा अचेतन (Unconsciousness) में विभक्त किया गया है। डाक्टर फ्रायड के मतानुसार मन के दो भाग हैं चेतन मन तथा अचेतन मन। हमारे जीवन में जाग्रत अवस्था में जब कोई ऐसा विचार उत्पन्न होता है जो हम किसी कारण से पूरा नहीं कर सकते। वह विचार हमारी विवेक-शक्ति के कारण दबकर रह जाता है। इस कारण हमारे अनेक संकल्प हमारी अनेक इच्छाएँ, अचेतन मन में समा जाती हैं, किन्तु ये सब दबी हुई इच्छाएँ तथा विचार सदा के लिए लुप्त नहीं हो जाते, अपितु सदा के लिए हमारे अचेतन मन में गुप्त रूप में रहते हैं और अवसर आने पर अपने आप को परोक्ष रूप में प्रकट करते हैं। डाक्टर फ्रायड ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि हमारे सब मनोविकार तथा हमारे असामान्य व्यवहार शैशवकाल में ही दमन की गई कामवृत्ति सम्बन्धी इच्छाओं के कारण ही होते हैं। अतः मनोविश्लेषण के द्वारा इन दबी हुई इच्छाओं को चेतना के स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जाता है।

असामान्य मनोविज्ञान—असामान्य मनोविज्ञान ऐसे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है, जिनका व्यवहार असाधारण होता है। कई व्यक्ति जन्म से ही बहुत सामान्य मानसिक क्रियाओं से वंचित रहते हैं। बहुत से ऐसे होते हैं, जिनका मनोविकास अधूरा रह जाता है और वे समाज में रहने के योग्य नहीं होते। ऐसे सब व्यक्ति असामान्य होते हैं। अतः असामान्य मनोविज्ञान विशेषकर पागलपन उन्माद के रोगियों का अध्ययन करता है। जो व्यक्ति विलक्षण प्रतिभा रखते हैं, वह भी असामान्य माने जाते हैं। असामान्य मनोविज्ञान ऐसे व्यक्तियों का भी अध्ययन करता है।

चिकित्सा मनोविज्ञान—मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए चिकित्सा मनोविज्ञान का निर्माण किया गया है। रोगी का मनोविश्लेषण करके तथा अन्य साधनों से उसके मनोविकार का कारण जाना जाता है और इस कारण को दूर करने की चेष्टा की जाती है। मनोविज्ञान की इस शाखा ने आधुनिक काल में बहुत उन्नति की है तथा बहुत से मनोविकारों की चिकित्सा करने में सफलता प्राप्त की है।

बाल मनोविज्ञान— मनोविज्ञान की यह शाखा शैशव-काल से लेकर किशोरावस्था तक बालक की मनोवृत्तियों का विश्लेषण करती है। मनोवृत्तियों के आधार पर मनुष्य की चार अवस्थाएँ हैं :—

१. शैशवावस्था (Infancy)।

२. बाल्यावस्था (Childhood)।
३. किशोरावस्था (Adolescence)।
४. प्रौढ़ावस्था (Adulthood)।

बाल मनोविज्ञान अपने अध्ययन में पहली तीन अवस्थाओं तक सीमित रहता है। मनोविज्ञान की इस शाखा ने भी बहुत उन्नति की है। शिशुओं तथा बालकों पर प्रयोग किए गए हैं और नए-नए विद्वान् नियत करके बालकों की बुद्धि के विकास पर बहुत प्रकाश डाला गया है। क्या बालक के व्यक्तित्व का विकास उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों पर निर्भर है, अथवा वातावरण पर ? क्या किशोरावस्था तक ही उसकी बुद्धि का विकास होता है ? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर बाल-मनोविज्ञान में मिल सकता है।

उद्योग मनोविज्ञान—वह व्यावहारिक मनोविज्ञान (Practical psychology) की शाखा है। आधुनिक युग में उद्योग की बहुत उन्नति हुई है। बड़े-बड़े कारखानों में तथा उद्योगशालाओं में लाखों श्रमजीवी काम करते हैं। इन व्यक्तियों की मानसिक अवस्था स्वस्थ रखना आवश्यक है। उद्योग मनोविज्ञान इसी उद्देश्य से थकावट, विश्राम इत्यादि की समस्याओं का अध्ययन करता है। किन साधनों से श्रमजीवियों की थकावट दूर हो सकती है ? क्या उद्योगशालाओं में सिनेमा, थियेटर इत्यादि मनोरंजन का साधन बन सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर देना उद्योग मनोविज्ञान का कार्य है।

वाणिज्य मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की यह शाखा वाणिज्य की समस्याओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करती है। आधुनिक काल में नए-नए साधनों द्वारा विज्ञान का विज्ञापन (Advertisement) किया जाता है। वाणिज्य मनोविज्ञान रुचि और लोगों की प्रकृति इत्यादि के आधार पर विज्ञापन की नई विधियों का उपयोग करता है। यदि कोई व्यक्ति व्यापार में सफलता प्राप्त करना चाहे तो उसको लोगों की रुचि तथा उनकी मनोवृत्तियों से परिचित होना चाहिए। अतः वाणिज्य मनोविज्ञान मनोवृत्तियों पर व्यापार के दृष्टिकोण से प्रकाश डालता है।

शिक्षा मनोविज्ञान—समय था जब कि शिक्षकों को मनोविज्ञान से वंचित रखा जाता था। किन्तु आधुनिक युग के बड़े-बड़े शिक्षा के सुधारकों ने सिद्ध किया है कि बालक की शिक्षा मनोविज्ञान के आधार पर ही सफल हो सकती है। शिक्षा मनोविज्ञान बालक की मनोवृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा इस बात पर प्रकाश डालता है कि कौन-कौन-सी मनोवृत्ति का शिक्षा में सदुपयोग किया जा सकता है। प्रायः हम ऐसे बालक को जो कि अपनी श्रेणी के बालकों से असामान्य होता है, अयोग्य समझकर छोड़ दिया करते हैं। किन्तु शिक्षा मनोविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि ऐसा बालक भी सुशिक्षित हो सकता है, यदि उसको अनुकूल वातावरण में रखा जाय। इसी प्रकार बालक की धृष्टता का कारण नहीं बल्कि माता-पिता अथवा शिक्षक के कारण ही बालक की धृष्टता

उग्र रूप धारण करती है। इन जब दमन अथवा भय के द्वारा बालक की मूल प्रवृत्तियों का दमन करते हैं तो वह क्रूरता का व्यवहार करता है। इस प्रकार से बालक के संवेग सुधारे जा सकते हैं? कहाँ तक पैतृकता तथा वातावरण बालक की शिक्षा में सहायक अथवा बाधक हो सकते हैं? शिक्षक किस प्रकार अपने पढ़ाने के विषय को रुचिकर बना सकता है? बालक की क्रीड़ा की प्रवृत्ति को किस प्रकार से शिक्षा में उपयोगी बनाया जा सकता है? इस प्रकार की समस्याओं को सुलझाने की शिक्षा-मनोविज्ञान में आवश्यकता है।

मनोप्रक्रिया के तीन मुख्य अंग

मनोवैज्ञानिकों ने विश्लेषण के पश्चात् चेतना अथवा मानसिक जीवन को ऐसे तीन अंगों में विभक्त किया है, जो परस्पर भिन्न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं। साधारण भाषा में उनको जानना, महसूस करना तथा इच्छा करना कहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक भाषा में उनको क्रमशः ज्ञान (विचार), भाव (राग) तथा क्रिया का नाम दिया जाता है। चेतना के ये तीनों अंग मानसिक जीवन में निरन्तर रहते हैं, किन्तु जब इनमें से एक अधिक मात्रा में होता है तो उससे सम्बन्धित क्रिया भी उसी का अंग कहलाती है। उदाहरण के तौर पर एक विषय पर ध्यान देने की मानसिक अवस्था को लीजिए—जब मैं एक गुलाब के पुष्प की ओर ध्यान देता हूँ तो वहाँ ज्ञानात्मक अंग प्रधान है, क्योंकि मैं जिस विषय पर ध्यान देता हूँ, वह स्पष्ट रूप में जाना जा रहा है। किन्तु मैं इसकी ओर ध्यान क्यों देता हूँ? क्योंकि वह मुझे रुचिकर प्रतीत होता है अथवा मैं इस की ओर ध्यान देने की इच्छा करता हूँ; यह मेरे अनुभव का क्रियात्मक अंग है। किन्तु मुझे पुष्प की ओर ध्यान देने में रुचि क्यों होती है? इसलिये कि यह मुझे आनन्द देता है। इस प्रकार इस अनुभव में भावात्मक तथा रागात्मक अंग भी है, किन्तु इस में रागात्मक तथा क्रियात्मक अंगों की अपेक्षा ज्ञानात्मक अंग अधिक प्रभावशाली हैं। इसलिए इस मनोकार्य को ज्ञान तथा ज्ञानात्मक मनोक्रिया कहेंगे। इसी प्रकार क्रोध को भावात्मक अंग की प्रधानता के कारण भावात्मक मनोक्रिया कहेंगे। चेतना के तीनों अंग एक दूसरे में मिश्रित हो जाते हैं और अन्योन्याश्रित हैं। ज्ञान, भाव और क्रिया चेतना के मुख्य अंग हैं। इन तीनों को हम एक नहीं कर सकते और न ही इनका पृथक् अनुभव हो सकता है।

ज्ञानात्मक अंग—ज्ञान शब्द (Cognition) लातीनी भाषा के शब्द (Cogito) 'कागनोशो' से बना है जिस का अर्थ है—'मैं जानता हूँ'। मनोवैज्ञानिक भाषा में इस का अर्थ जानना अथवा जानने की सामर्थ्य है। ज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया हमें अपने वातावरण का ज्ञान देती है। ज्ञानात्मक क्रिया में संवेदना अथवा निर्विकल्पक-प्रत्यक्षज्ञान (Sensation), प्रत्यक्षज्ञान (Perception), प्रत्यय (Idea) स्मृति (Memory), प्रत्यभिज्ञा (Recognition), कल्पना (Imagination), विचार

(Thought) इत्यादि मानसिक क्रियाएँ उपस्थित हैं। ज्ञान में एक ऐसे विषय का होना आवश्यक है, जिसके प्रति हम जानते हैं अथवा विचार करते हैं। किन्तु वह ज्ञान-विषय सर्वदा ठोस अथवा भौतिक विषय नहीं होता। कोई भी वस्तु, जिसका हम विचार कर सकते हैं, अथवा जिसकी कल्पना कर सकते हैं अथवा जिसे जान सकते हैं—ज्ञान का विषय बन सकती है। यह वस्तु आत्मिक भी हो सकती है, भौतिक भी हो सकती है अथवा ऐसे विषय का प्रत्यय हो सकता है, जिसका वास्तव में कुछ अस्तित्व भी न हो। अतः ज्ञानात्मक प्रक्रिया को तथा उसके विषय को अभिन्न(Identical) नहीं कहा जा सकता।

भावात्मक अंग—भाव शब्द लातीनी भाषा में 'अफ़ैक्ट्यो' (Affectio) से बना है, जिसका अर्थ है प्रभावित अथवा पुलकित होना। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसका अर्थ प्रभावित होने की अवस्था, बाह्य जगत् के द्वारा आनन्दित अथवा दुःखित होना है। इस प्रकार इसमें भाव (Affection), संवेग (Emotion), भावधारा (Mood), स्थायीभाव (Sentiment) इत्यादि मानसिक क्रियाएँ उपस्थित रहती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब तक हम किसी विषय को जानते न हों, उसके द्वारा प्रभावित नहीं हो सकते। साधारणतया हमारे ज्ञानात्मक अनुभवों के साथ प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता, सन्तोष अथवा असन्तोष का भावात्मक अंग रहता है। हमारी सम्पूर्ण चेतना कदापि शून्य नहीं रहती, उसमें कुछ-न-कुछ भावात्मक अंश अवश्य रहता है, चाहे वह अंश, मात्रा में बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। जैसा कि शब्द की अनुपस्थिति जिसको कि हम पूर्ण-शान्ति कहते हैं, शब्द पूर्णतया अनुपस्थित नहीं होता, बल्कि उस समय वह हमारी चेतना में, प्रत्यक्ष संवेदना को उत्पन्न नहीं करता।

क्रियात्मक अंग—क्रिया शब्द का अर्थ मन का वह क्रियात्मक अंग है, जिसके द्वारा मन किसी विषय की ओर जाना चाहता है, अथवा उससे दूर रहना चाहता है। कई बार शब्द 'इच्छा' का, क्रिया के स्थान पर प्रयोग किया जाता है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में इच्छा को एक विशेष क्रियात्मक प्रक्रिया तक सीमित रखा जाता है। इस दृष्टिकोण से क्रिया में रुचि (Interest), उत्कण्ठा (Craving,) भावना (Desire), चेष्टा (Endaevour), अभिप्राय (purpose), मनोरथ (Wish), इच्छा (Will) निश्चय (Resolve), निर्वाचन (Choice) इत्यादि मानसिक क्रियाएँ सम्मिलित हैं। जब किसी साधारण क्रिया का विश्लेषण किया जाय तो उनमें निम्नलिखित लक्षण पाये जायँगे :—

१. मनोक्रिया का एक ऐसे लक्ष्य की ओर बहाव, जिसको कि तृप्ति कहते हैं।

२. चैतन्य होने का लक्षण अर्थात् अनुभव अथवा चेष्टा।

क्रिया अन्य सब चेतना के अंगों की तरह विषय के साथ सम्बन्धित रहती है। हम कदापि भावना तथा इच्छा नहीं कर सकते, जब तक कि भावना तथा इच्छा के

जिसमें कोई वस्तु न हो। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि क्रिया के विषय तथा उसकी तृप्ति में अन्तर है। वास्तविक तृप्ति क्रियात्मक मनोक्रिया की अन्तिम सीढ़ी है। क्रिया उस समय तक जारी रहती है, जब तक कि उसकी तृप्ति नहीं होती। विषय सर्वदा एक विचार के रूप में रहता है और उस विचार की सिद्धि तृप्ति है। उदाहरण-स्वरूप सेब खाने का विचार तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम वास्तव में सेब खा लेते हैं, और जब हम खा चुकते हैं तो हमारी क्रिया की तृप्ति हो जाती है।

ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक प्रक्रिया का सम्बन्ध—इस में कोई सन्देह नहीं कि मानसिक क्रिया को तीनों भागों में विभक्त किया गया है, किन्तु फिर भी वास्तविक अनुभव में इन तीनों को पृथक् करना असम्भव है। वास्तव में प्रत्येक पूर्ण मानसिक अवस्था में तीनों का होना आवश्यक है, चाहे वह भिन्न मात्रा में ही हों। अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि कुछ सीमा तक ये परस्पर विरोधी अंग हैं। ये एक ही मनोक्रिया का अंश होते हुए भी एक ही मात्रा में नहीं होते। इन तीनों में से एक अंग जितना अधिक विशद अथवा उग्र होगा, उतना ही दूसरे दो अंग निर्बल तथा अप्रत्यक्ष होंगे। उदाहरणस्वरूप जब कोई उग्र संवेग मानों शोक, भय अथवा क्रोध मन में उत्पन्न होता है, तो उस समय दोनों विचारात्मक क्रिया तथा इच्छा-शक्ति लेशमात्र रह जाते हैं। इसी प्रकार जितना भी हमारा मन विचारात्मक तथा बौद्धिक विवेचन में ग्रस्त होगा उतनी ही भाव की मात्रा कम होगी।

इनका परस्पर सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है। इनमें से कोई भी अंग पृथक् उपस्थित नहीं हो सकता, प्रत्येक दूसरे पर निर्भर है। इस प्रकार विचारात्मक अंग, जैसे ध्यान (Attention) भाव तथा क्रियात्मक गुण दोनों पर निर्भर है। यह भाव पर इसलिए निर्भर है क्योंकि कोई भी बौद्धिक विवेचन भावों के द्वारा दी हुई प्रेरणा के बिना सफल नहीं हो सकता। यह क्रिया पर इसलिए निर्भर है क्योंकि ध्यान देते समय प्रयत्न तथा चेष्टा का होना आवश्यक है।

अभ्यास

१. आधुनिक मनोविज्ञान की मुख्य शाखाओं का वर्णन करते हुए मनोविज्ञान की प्रगति तथा उसके विस्तार पर प्रकाश डालो।
२. मनोविज्ञान की कौन-कौन सी शाखाओं में प्रयोग पद्धति का महत्त्व है?
३. बाल मनोविज्ञान तथा शिक्षा मनोविज्ञान की तुलना करते हुए उन में समानता तथा विभिन्नता बतलाओ।
४. तुलनात्मक तथा वैयक्तिक मनोविज्ञान का क्या महत्त्व है?
५. मनःप्रक्रिया के तीन मुख्य अंग कौन-कौनसे हैं और उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है?

तीसरा अध्याय

बुद्धि का स्वरूप

बुद्धि तथा बुद्धि-परीक्षा

बुद्धि का महत्त्व—आधुनिक युग में बुद्धिमत्ता का राज्य है। प्राचीन काल में केवल शारीरिक शक्ति की ही प्रधानता थी। आजकल भी शक्ति, साहस और सुन्दरता इत्यादि की प्रशंसा की जाती है, किन्तु बुद्धिमत्ता प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोच्च गुण माना जाता है। इस युग में शक्ति भी बुद्धि पर निर्भर है। वैज्ञानिकों ने बुद्धि के द्वारा ही प्रकृति पर विजय पाई है और विज्ञान ने नए आविष्कार किए हैं। पिछले दो महायुद्धों ने भी प्रकट कर दिया है कि शारीरिक शक्ति बुद्धि के सामने तुच्छ है। केवल एक व्यक्ति के द्वारा एक ही परमाणु बम का प्रयोग कुछ क्षणों में लाखों व्यक्तियों का संहार कर सकता है। आज बड़े-बड़े वैज्ञानिक नये प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार करके चन्द्र और मंगल जैसे नक्षत्रों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। मनुष्य ने वाष्प-शक्ति, विद्युत-शक्ति परमाणु-शक्ति, तथा हाईड्रोजन (सबसे हलका वायुरूप तत्त्व) शक्ति पर बुद्धि के द्वारा ही नियन्त्रण किया है। इसी कारण मनोविज्ञान,व्यावहारिक दृष्टिकोण से बुद्धि का विश्लेषण, बुद्धि की परीक्षा तथा बुद्धि की उपयोगिता इत्यादि विषयों का अध्ययन करता है।

बुद्धि की परिभाषा तथा व्याख्या—बुद्धिमत्ता एक व्यक्ति की सामान्य योग्यता ही समझी जाती है, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह भाववाचक संज्ञा नहीं है। बुद्धि का अर्थ यहाँ पर बुद्धिमत्ता से कार्य करना है। दूसरे शब्दों में बुद्धि को भाववाचक संज्ञा समझने की अपेक्षा क्रियाविशेषण समझना चाहिए। हम मनुष्य को बुद्धिमान इसीलिए कहते हैं क्योंकि वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धिमत्ता से कार्य करता है। हम प्रायः बुद्धि के सामान्य लक्षणों को जानते हैं। हम बुद्धिमान उस व्यक्ति को कहते हैं, जो कठिन-से-कठिन समस्या को भी सफलतापूर्वक सुलझा लेता है; जो सजग और सचेतन है; जो उचित समय पर उचित कार्य करता है; जो प्रत्येक विषय को शीघ्र समझ लेता है; जिसकी स्मृति अच्छी है और जिसकी कल्पनात्मक शक्ति प्रबल है। इन सामान्य लक्षणों से यह प्रतीत होता है कि बुद्धिमत्ता वर्तमान परिस्थिति में पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर उस परिस्थिति की नवीनता को ध्यान में रखते हुए और पूर्णतया समझते हुए उचित कार्य करना है। शिक्षक के लिए बुद्धिमत्ता का पूर्ण ज्ञान रखना आवश्यक है। श्रेणी में उसका तीव्र बुद्धि तथा मन्द बुद्धि वाले बालकों से सम्पर्क होता है। कुछ बालक थोड़े ही समय में अध्यापक की बात को समझ जाते हैं। किन्तु कुछ बालकों को बार-बार समझाने पर भी साधारण विषय समझ में नहीं आते। कुछ अध्यापक द्वारा पढ़ाये गये विषय में

स्वयं वृद्धि करके परीक्षा में प्रश्नों का उत्तर विस्तारपूर्वक देते हैं और कुछ शिक्षक द्वारा दी गई व्याख्या का दशांश भी परीक्षा में नहीं लिख सकते। मनोवैज्ञानिकों ने इस [illegible] अन्तर का विस्तृत विश्लेषण किया है।

बुद्धिमत्ता के विविध स्तर

बुद्धि पर प्रयोग करने के पश्चात् मनोवैज्ञानिक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि बुद्धिमत्ता के आधार पर बालकों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) निर्बुद्धि अथवा विकृत मस्तिष्क (Idiots);
(२) अल्प बुद्धि (Imbeciles);
(३) दुर्बल बुद्धि (Feeble minded or morons);
(४) क्षीण बुद्धि (Dull);
(५) मन्द बुद्धि (Below average);
(६) साधारण बुद्धि (Normal);
(७) उत्कृष्ट बुद्धि (Bright);
(८) अत्युत्कृष्ट बुद्धि (Extraordinarily bright); और
(९) अलौकिक बुद्धि अथवा प्रतिभासम्पन्न (Genius);

निर्बुद्धि तथा अल्प बुद्धि बालक—विकृत मस्तिष्क वाले बालकों की बुद्धि केवल निषेधात्मक वाक्यों में वर्णन की जा सकती है। वे इतने मूर्ख होते हैं कि वे अपने आप को जीवन के सामान्य खतरों से नहीं बचा सकते। ये जलती हुई अग्नि में अपना हाथ डाल देते हैं; बेधड़क गहरे पानी में चले जाते हैं अथवा मोटर कार के रास्ते से नहीं हटते। वे कपड़े पहनना और नहाना नहीं सीख सकते। उनमें से बहुत ही विकृत बुद्धि वाले खाना-पीना तथा शरीर की अन्य आवश्यकताओं को पूरा करना भी नहीं सीख सकते। वे एक-दो शब्दों के अतिरिक्त और कुछ बोलना ही नहीं सीख सकते। इसी प्रकार अल्प बुद्धि वाले बालक भी मूर्ख होते हैं, किन्तु उनकी मूर्खता विकृत बुद्धि वाले बालकों की भाँति नहीं होती। वे उनकी भाँति जलती हुई अग्नि में हाथ नहीं डालते और न ही अपने आप को जीवन के साधारण खतरों में डालते हैं। किन्तु वे कोई लाभदायक कार्य नहीं सीख सकते। अल्प बुद्धि वाले बालकों की कई श्रेणियाँ होती हैं। सबसे नीची श्रेणी वाले किसी प्रकार का कार्य नहीं सीख सकते। मध्यम श्रेणी वाले एक दो लाभदायक कार्यों को बहुत परिश्रम के बाद सीखने में समर्थ होते हैं। उच्च श्रेणी वाले अल्प बुद्धि बालक लाभदायक कार्य सीख लेते हैं; जैसे नहाना, भोजन करना, कपड़े पहनना, झाड़ू देना इत्यादि। किन्तु उनको स्वतन्त्रतापूर्वक कभी कार्य सौंपा नहीं जा सकता।

दुर्बल, क्षीण तथा साधारण बुद्धि वाले बालक—दुर्बल बुद्धि वाले बालक अल्प बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा कुछ समझदार होते हैं। किन्तु अति दुर्बल बुद्धि वाले बालकों तथा अल्प बुद्धि वाले बालकों में विशेष अन्तर नहीं होता। ऐसे बालकों को बहुत से कार्य सिखलाए जा सकते हैं। जैसे सन्देश पहुँचाना, भेड़ों को चराना, बच्चों की देख-भाल करना, सीने की मशीन चलाना इत्यादि। क्षीण बुद्धि वाले बालक बहुत से कार्य सीख सकते हैं, किन्तु वे साधारण बुद्धि वाले बालकों की भाँति समझदार नहीं होते। बहुत से विचारयुक्त कार्यों को वे नहीं सीख सकते। ऐसे बालक पहली दूसरी श्रेणी से अधिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। मन्द बुद्धि वाले बालक साधारण बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षा पिछड़े हुए हैं। वे शिक्षा तो काफी श्रेणियों तक प्राप्त करते हैं, किन्तु या तो वे प्रत्येक श्रेणी में बार-बार अनुत्तीर्ण होते है या बहुत परिश्रम के पश्चात् पास होने के योग्य अङ्क प्राप्त करते हैं।

उत्कृष्ट अत्युत्कृष्ट तथा अलौकिक बुद्धि वाले बालक—अध्यापक को भिन्न-भिन्न प्रकार की बुद्धि वाले बालकों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। उसे श्रेणी में प्रत्येक बालक से उसकी बुद्धि के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। अनुचित व्यवहार करने से बालक कभी भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। यदि प्रकृति से ही कोई बालक मन्द बुद्धि वाला हो तो उससे पढ़ाई में सर्वप्रथम रहने की आशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार शिक्षक को यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ बालकों की बुद्धि साधारण बालकों की अपेक्षा तीव्र होती है। उदाहरणस्वरूप उत्कृष्ट बुद्धि वाले बालक थोड़ा-सा परिश्रम करने पर भी परीक्षा में अच्छे अङ्क प्राप्त करके पास होते हैं। वे खेलते भी रहते हैं और साथ ही अध्ययन भी करते रहते हैं। वे साधारण बुद्धि वाले बालकों से कुछ ऊँचे स्तर पर होते हैं। अत्युत्कृष्ट बुद्धि वाले बालक बहुत समझदार होते हैं। वे पढ़ने में अध्यापक की अधिक सहायता नहीं लेते और परीक्षा में प्रथम या द्वितीय रहते हैं। अलौकिक बुद्धि वाला अथवा प्रतिभासम्पन्न बालक सहस्रों में एक होता है। उसमें विलक्षण प्रतिभा होती है। वह न केवल अध्यापक की सहायता के बिना स्वयं पढ़ सकता है, अपितु वह स्वयं नये-नये विचारों का उत्पादन करता है और आविष्कार भी कर सकता है। वह बाल्यकाल में ही कवि अथवा लेखक हो सकता है; उदाहरणस्वरूप विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टाकुर बाल्यकाल में ही उच्च कोटि की कविता लिख सकते थे।

मनःप्रक्रिया को मापने के प्रयत्न—मनःप्रक्रिया की परीक्षा तथा व्यक्ति की मानसिक शक्तियों की जाँच मनोविज्ञान के क्षेत्र में चिरकाल से की जा रही है। किन्तु आदिकाल में ऐसी परीक्षाएँ वैज्ञानिक स्तर पर नहीं थीं। केवल मात्र शारीरिक चिह्नों के आधार पर एक व्यक्ति की योग्यता का अनुमान लगाया जाता था। उदाहरणस्वरूप श्री लेवेटर ने (Lavater) सर्वप्रथम आकृति सामुद्रिक पर निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध

करने की चेष्टा की कि मुख का आकार प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता तथा उसकी प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार अन्य व्यक्तियों ने भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि खोपड़ी तथा सिर की असाधारण आकृति, विशेषकर इनकी कुरूपता एक व्यक्ति की मानसिक हीनता का कारण हो सकती है। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान में, विशेषकर प्रयोग रीति के कारण इन अनुमानों को असत्य सिद्ध किया गया। डाक्टर बर्ट (Burt) के शब्दों में 'आजकल के मनोवैज्ञानिक मुख तथा सिर के निरीक्षण के आधार पर अस्थायी निर्णयों पर अविश्वास करने में सहमत हैं।' दूसरे शब्दों में आजकल सिर के आकार अथवा उसके छोटे वा बड़े होने को बुद्धिमत्ता से सम्बन्धित नहीं किया जाता। कार्ल पियरसन (Karl Pearson) ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। उसने सन् १९०६ में एक पुस्तक प्रकाशित की थी, जिसका शीर्षक 'बुद्धिमत्ता का सिर के आकार तथा परिमाण से सम्बन्ध' था। उनके इस प्रकाशन के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर रास (Ross) ने लिखा है कि "इस अन्वेषक (कार्ल पियरसन) ने पाँच हजार स्कूलों के तथा एक हज़ार कालेजों के बालकों पर परीक्षा करने के पश्चात् सिद्ध किया है कि मन के इस प्रकार निर्धारित माप-दण्डों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, और न ही शारीरिक लक्षणों के निरीक्षण से किसी प्रकार की बौद्धिक योग्यताओं का अनुमान लगाया जा सकता है।"

आधुनिक मनोविज्ञान में बुद्धि-परीक्षण की प्रगति—बुद्धि-परीक्षा में प्रशंसनीय कार्य बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही फ्रांस की राजधानी पेरिस में किया गया था। इस नगर में बहुत से स्कूलों में पढ़ने वाले बालक पिछड़े हुए थे और इन्हीं पिछड़े हुए बालकों की समस्या को सुलझाने के लिए बुद्धि-परीक्षा के प्रयोग किये गये। इस क्षेत्र में श्री ऐलफ्रैड बाईनैट (Alfred Binet) ने, जो कि अपने समय के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थे, इन बालकों पर प्रयोग किये और उनकी त्रुटियों के कारण जानने का प्रयत्न किया। उनकी बुद्धिमत्ता की परीक्षा करने के लिए यह आवश्यक था कि बुद्धिमत्ता का कोई-न-कोई सामान्य मापदण्ड बनाया जाय। किन्तु इस प्रकार मापदण्ड का निर्धारित करना कोई साधारण काम नहीं था और न ही केवल एक परीक्षा के आधार पर शिशुओं की बुद्धिमत्ता की जाँच की जा सकती थी। अतः महाशय बाईनैट ने बहुत सी छोटी-छोटी परीक्षाएँ निर्धारित कीं। उन्होंने परीक्षाओं को निर्धारित करते समय यह बात ध्यान में रखी कि ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है, उसकी योग्यता धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। अतः उन्होंने छोटी आयु वाले शिशुओं के लिए सरल-से-सरल परीक्षाएँ निर्धारित कीं। सब से सरल परीक्षाएँ तीन वर्ष वाले शिशुओं के लिए, उनसे कुछ कठिन चार वर्ष के बालक के लिए और इसी प्रकार बड़े शिशुओं के लिए आयु के अनुसार परीक्षाओं को निर्धारित किया। किन्तु एक परीक्षा को विशेष आयु के लिए निर्धारित करना भी साधारण काम नहीं था। उन्होंने प्रत्येक परीक्षा को एक ही आयु वाले अनेक शिशुओं पर लागू करने के पश्चात् और उसके सफल

परिणामों के पश्चात् ही इस आयु के शिशुओं के लिए उस विशेष परीक्षा को निर्धारित किया। उनका यह कार्य बहुत सराहनीय था। अतः अन्य देशों के मनोवैज्ञानिकों ने उनकी निर्धारित परीक्षाओं को अपनाया, उनकी पुनरावृत्ति की और उन में कुछ परिवर्तन भी किये। महाशय बाईनैट ने तो तीन-वर्षीय बालकों की परीक्षा से कार्य आरम्भ किया था, किन्तु अन्य मनोवैज्ञानिकों ने इन परीक्षाओं को एकवर्षीय बालकों के स्तर तक पहुँचा दिया। इसके अतिरिक्त बहुत से प्रयोगों के पश्चात् सोलह वर्षीय बालकों तथा प्रौढ़ व्यक्तियों तक बुद्धि-माप की परीक्षाएं निर्धारित की गई।

बुद्धि-परीक्षाओं की सूची—श्री बाईनैट की परीक्षाएँ सर्व प्रचलित हो गई। श्री टरमैन (Terman) ने अमरीका में इन परीक्षाओं में वृद्धि की। इन परीक्षाओं को प्रौढ़ स्तर तक लाने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन परीक्षाओं को एक वर्ष से भी कम स्तर तक लाने का श्रेय श्री कुहलमैन (Kuhlman) को प्राप्त है। बुद्धि परीक्षाओं की संशोधित सूची निम्नलिखित हैं:

(१) **तीन मास की आयु तक का स्तर**—अपने हाथ को अव्यवस्थित गति की अपेक्षा विशेष गति से अपने मुँह तक ले जाना।

(२) **छः मास की आयु तक का स्तर**—जहाँ तक शिशु का हाथ पहुँच सकता हो, उसी सीमा में छोटे से चमकते हुए तथा झंकार करते हुए विषय की ओर बढ़ना।

(३) **बारह मास की आयु तक का स्तर**—झुनझुना बजाने अथवा घंटी बजाने की क्रिया का अनुकरण करना।

(४) **दो वर्ष की आयु तक का स्तर**—कागज़ में लिपटी हुई मिठाई को मुँह में डालने से पहले उसका कागज़ उतार लेना।

(५) **तीन वर्ष की आयु तक का स्तर**—पाँच में से तीन परिचित विषयों का नाम बताना; जैसे कान, नाक, आँख, कागज़, मिठाई इत्यादि। दो मिनट के अन्दर कम-से-कम चार मनकों का पिरोना।

(६) **छः वर्ष की आयु तक का स्तर**—मुख के चित्रों में, जिनमें कि नाक, एक आँख इत्यादि जान-बूझकर छोड़ दिए गए हों, उनकी अनुपस्थिति को बतलाना। इस प्रकार के चार चित्रों में से तीन प्रतिक्रियाओं का ठीक होना आवश्यक है।

(७) **नौ वर्ष की आयु तक का स्तर**—लकड़ी तथा कोयले में सादृश्य, तथा विभिन्नता बतलाना। इस प्रकार के चार जोड़ों का सादृश्य तथा विभिन्नता ठीक-ठीक बतलाना। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार कोयले और लकड़ी की तुलना की जाती है, इसी प्रकार तीन अन्य प्रकार की मिलती-जुलती वस्तुओं के जोड़ों की तुलना करना।

(८) **बारह वर्ष की आयु तक का स्तर**— किसी घटना सम्बन्धी चित्र की पूरी व्याख्या करना। उदाहरणस्वरूप ताँगे और मोटर की टक्कर दिखलाते हुए चित्र की

व्याख्या करना। इसी प्रकार सौ शब्दों में से चालीस शब्दों की मोटी परिभाषा देना।

(९) चौदह वर्ष की आयु तक का स्तर—राष्ट्रपति तथा राजा की तुलना करते हुए तीन मुख्य भेद बतलाना। किसी चित्र में आकारसम्बन्धी त्रुटि बतलाना।

शिशुओं की बुद्धि-परीक्षा लेते समय परीक्षक को सावधान रहना चाहिये। महाशय बाईनैट की परीक्षाएँ केवल एक विशेष प्रकार का मापदण्ड हैं। अतः इनको प्रयोग में लाने वाला व्यक्ति अनुभवी होना चाहिये। वास्तव में इन बुद्धि-परीक्षाओं की सामग्री को देखकर उनका अभिप्राय समझ लेना चाहिये, और उस आशय के आधार पर बालक के देश तथा उसके वातावरण के अनुसार, इन परीक्षाओं से मिलते-जुलते प्रश्नों द्वारा उसकी बुद्धि की जाँच करनी चाहिये। अतः भिन्न-भिन्न बुद्धि-परीक्षाओं में प्रयुक्त सामग्री का कुछ ज्ञान रखना लाभदायक है।

बुद्धि परीक्षा की सामग्री—महाशय बाईनैट ने तो केवल मात्र प्रश्नोत्तर रीति द्वारा ही बुद्धि की जाँच का प्रयत्न किया था। ऐसी परीक्षाओं में जब परीक्षक परीक्षार्थी की भाषा न जानता हो, प्रायः वास्तविकता जानने में कठिनाई रहती है। अतः बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने कार्य-निपुणता सम्बन्धी परीक्षाओं (Performance Tests) का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप एक लकड़ी के तख्ते में भिन्न आकारों के छिद्र रखे जाते हैं। उन्हीं आकारों के काष्ठ के टुकड़े शिशु के सामने रखे जाते हैं और उसे छिद्रों में उचित टुकड़े भर देने को कहा जाता है। यदि शिशु किसी टुकड़े को उसी आकार वाले छिद्र में नहीं डालता तो उसका यह कार्य एक भूल माना जाता है। इस प्रकार देखा जाता है कि शिशु कितनी बार भूल करता है। इसी प्रकार मनुष्य का आकार बनाने की परीक्षा चार वर्ष की आयु वाले शिशु से लेकर दस वर्षीय शिशु तक उसकी बुद्धि जाँचने के लिए लाभदायक होती है। शिशु को जब मनुष्य का चित्र बनाने को कहा जाता है तो यह बात ध्यान में होती है कि वह कितने अधिक-से-अधिक मनुष्य के शरीर के भागों को अंकित कर सकता है। इसी प्रकार निम्नलिखित अक्षर लिखे जाते हैं :

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त· · · ·

इसके पश्चात् शिशु को दस सेकिण्ड का समय दिया जाता है और उसे कहा जाता है कि आदेश को प्राप्त करते ही वह लिखी हुई पंक्ति के अन्तिम अक्षर को काट दे। अक्षर 'च' पर गोलाकार बना दे और अक्षर 'ट' से आगे वाले दो अक्षरों के नीचे लकीरें लगा ले। इन सब परीक्षाओं में हमें भिन्न प्रकार की सामग्री का पता चलता है। इन सब परीक्षाओं का उद्देश्य एक ही है।

बोध-लब्धि तथा उसका वितरण—जैसा कि पहले बताया जा चुका है मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न आयु वाले बालकों के लिए भिन्न-भिन्न परीक्षाएँ निर्धारित की हैं। जब कोई बालक किसी भी आयु की स्तर वाली बुद्धि-परीक्षाओं को पास कर लेता है,

तो उसकी मानसिक आयु उतनी ही समझी जाती है। उदाहरणस्वरूप यदि कोई बारह वर्ष का बालक नौ वर्ष के स्तर वाली परीक्षाओं को ही पास कर सकता है और उस से आगे की परीक्षाओं में उत्तीर्ण नहीं हो सकता, तो उसकी मानसिक आयु (Mental age) नौ वर्ष ही मानी जायगी। अतः एक बालक की वास्तविक आयु अधिक होते हुए भी, उसकी मानसिक आयु कम हो सकती है। इसी प्रकार वास्तविक आयु कम होते हुए मानसिक आयु अधिक हो सकती है; उदाहरणस्वरूप यदि एक आठ वर्ष का बालक, दस वर्ष के स्तर वाली बुद्धि-परीक्षाएँ पास कर लेता है, तो उसकी मानसिक आयु दस वर्ष मानी जायगी। जिस बालक की मानसिक आयु वास्तविक आयु से अधिक हो, वह तीव्र बुद्धि वाला होगा और जिसकी मानसिक आयु वास्तविक आयु से कम हो, उसकी बुद्धि मन्द मानी जायगी। मनोविज्ञान में बुद्धि-परीक्षण की विशेष विधि के द्वारा प्रत्येक बालक की बोध-लब्धि (Intelligence Quotient) निकाली जा सकती है। यदि किसी बालक की मानसिक आयु उसकी वास्तविक आयु के बराबर हो, तो उसकी बोध-लब्धि १०० मानी जाती है, किन्तु यदि किसी बालक की मानसिक आयु कम या अधिक हो तो, उनकी बोध लब्धि निकालने की विधि निम्नलिखित है :

$$\text{बोध लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$$

उदाहरणस्वरूप यदि किसी बालक की मानसिक आयु १० हो और वास्तविक आयु ८ हो तो उसकी बोध-लब्धि निम्नलिखित होगी :

$$\frac{\overset{५}{१०}}{\underset{४}{८}} \times \overset{२५}{१००} = १२५$$

इसी प्रकार जिस बालक की मानसिक आयु ९ वर्ष और वास्तविक आयु १२ वर्ष हो तो उसकी बोध-लब्धि निम्नलिखित होगी :

$$\frac{\overset{३}{९}}{\underset{४}{१२}} \times \overset{२५}{१००} = ७५$$

बुद्धि-परीक्षाओं के प्रयोग करने के पश्चात् यह देखा गया है कि अधिकतर संख्या सामान्य बोध-लब्धि वाले लोगों की है। प्रायः ९० से लेकर ११० तक सामान्य बोध लब्धि मानी जाती है। शिशुओं पर प्रयोग करने के पश्चात् पता चला है कि ६० प्रतिशत बालकों की बोध-लब्धि ९० से ११० के बीच में होती है। केवल २० प्रतिशत बालक ९० से कम और २० प्रतिशत ११० से अधिक बोध-लब्धि वाले होते हैं। निम्नलिखित

व्याख्या से बोध-लब्धि का वितरण और भी स्पष्ट हो जाता है :—

बुद्धि	बालकों की प्रतिशत संख्या
७० से कम	१
७० से ७९	५
८० से ८९	१४
९० से ९९	३०
१०० से १०९	३०
११० से ११९	१४
१२० से १२९	५
१२९ से ऊपर	१

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ७० से कम बोध-लब्धि वाला बालक हीन बुद्धि वाला माना जायगा। ५० से ७० बोध-लब्धि वाले बालकों को दुर्बल बुद्धि अथवा उच्च कोटि का अल्प बुद्धि माना जाता है। २५ से ५० तक की बोध लब्धि वाले बालकों को अल्प बुद्धि माना जाता है। २० या २५ से कम बोध लब्धि वाले बालकों को निर्बुद्धि अथवा विकृत-मस्तिष्क माना जाता है। इसी प्रकार ७० से ८० बोध-लब्धि वाले बालकों को क्षीण बुद्धि अथवा उच्च कोटि का दुर्बल बुद्धि माना जाता है। ८० से ९० बोध-लब्धि वाले बालकों को मन्द बुद्धि अथवा उच्च कोटि की क्षीण बुद्धि माना जाता है। ९० से ११० की बोध-लब्धि वाले बालकों को साधारण बुद्धि माना जाता है। ११० से १२० बोध-लब्धि वाले बालकों को उत्कृष्ट बुद्धि कहा जाता है। १२० से १४० की बोध लब्धि वाले बालक अत्युत्कृष्ट बुद्धि होते हैं। १४० से ऊपर की बोध-लब्धि वाले बालक अलौकिक बुद्धि अथवा प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं।

ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है उसकी बुद्धि का स्तर भी ऊँचा होता चला जाता है। किन्तु प्रश्न यह होता है कि शिशु की बुद्धि का विकास किस आयु में चरम सीमा तक पहुँचता है। इस प्रश्न का ठीक उत्तर देने के लिए, बहुत से प्रयत्न किये गये हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया है कि चौदह वर्ष की आयु के पश्चात् बुद्धि में कोई प्रगति नहीं होती। किन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि २० वर्ष की आयु तक बुद्धि बराबर बढ़ती चली जाती है। वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर निश्चयपूर्वक नहीं दिया जा सकता। हमें यह बात माननी ही पड़ती है कि अभी तक प्रौढ़ व्यक्तियों की बुद्धि जाँचने की विधियाँ अपूर्ण हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि बुद्धि तथा सीखने की योग्यता बीस वर्ष की आयु में चरम सीमा तक पहुँच जाती है, तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस आयु के पश्चात् मनुष्य सीखना और प्रगति करना बन्दकर देता है। इसके विरुद्ध वास्तविकता यह है कि बुद्धि के विकास को चरम सीमा तक

पहुँचने के पश्चात् वह सीखने और उन्नति करने की पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेता है। अत. परिपक्व बुद्धि उसकी प्रगति तथा बौद्धिक विकास के लिए बहुत सहायक सिद्ध होती है। शिक्षा के दृष्टिकोण से जब बालक प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करता है, उसकी बुद्धि विकसित हो जाने के कारण उसको उसकी शिक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णतया सौंपा जा सकता है।

अभ्यास

१. बुद्धि का क्या महत्त्व है और उसकी क्या परिभाषा है ?

२. बुद्धि के भिन्न स्तरों पर प्रकाश डालते हुए, बतलाओ कि शिक्षा मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्यापक को भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले बालकों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए ?

३. मनोवैज्ञानिकों ने मनोप्रक्रिया को मापने के क्या-क्या प्रयत्न किए हैं ?

४. आधुनिक मनोविज्ञान में बुद्धि मापने के साधनों में कहाँ तक प्रगति हुई है ?

५. बुद्धि-परीक्षाओं की सूची देते हुए बतलाओ कि बुद्धि माप में किस प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया गया है ?

६. बोध-लब्धि का क्या अर्थ है ? एक बालक की बोध-लब्धि किस किस प्रकार से जानी जा सकती है ?

७. बोध-लब्धि के वितरण पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि किस आयु तक मनुष्य की बुद्धि का विकास होता रहता है ?

चौथा अध्याय

वंशानुक्रम तथा वातावरण (Heredity & Environment)

वंशानुक्रम

समस्या—शिक्षक के लिए वंशानुक्रम तथा वातावरण, प्रकृति तथा पोषण का ज्ञान रखना अत्यन्तावश्यक है, क्योंकि ये दोनों अंग शिशु के व्यक्तित्व के विकास की आधार-शिलाएँ हैं। शिक्षा-मनोवैज्ञानिक के सामने समस्या यह है कि इन दोनों में से कौनसा अंग शिशु के मानसिक तथा शारीरिक विकास का निर्णय करता है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि एक बालक दूसरे बालक की अपेक्षा केवल मात्र वंशानुक्रम के कारण ही श्रेष्ठ है तथा विद्या ग्रहण करने में शिक्षा का कोई हाथ नहीं है, तो मानव समाज के भविष्य को उज्ज्वल करने के लिए शिक्षक के सामने केवल यही कार्य रह जाता है कि वह जाति तथा वंश-परम्परा की उन्नति में ही तत्पर हो जाय। यदि इसके विरुद्ध यह सिद्ध हो जाय कि शिशु के व्यक्तित्व के विकास का केवल मात्र आधार उसका वातावरण अथवा सहवास ही है, तो शिशुओं के वातावरण की उन्नति की समस्या शिक्षक के लिए मुख्य समस्या हो जाती है। किसी प्रकार के निर्णय पर पहुँचने से पहले वंशानुक्रम तथा वातावरण का विस्तार-पूर्वक अध्ययन हमारे लिए आवश्यक है।

वंशानुक्रम की निरन्तरता—विज्ञान के दृष्टिकोण से शिशु की जन्मजात मानसिक तथा शारीरिक वृत्तियों के समूह को वंशानुक्रम का नाम दिया जा सकता है। वंशानुक्रम का आधारभूत नियम "समान कारण सदा समान परिणाम को जन्म देता है" (Like Produces Like) ही है। हम व्यावहारिक जीवन में प्राय: देखते हैं कि एक बालक शरीर में, रंग में, बुद्धिमत्ता में एवं रुचि तथा आदतों में अपने माता-पिता के समान होता है। हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान माता-पिता की संतान प्राय: हृष्ट-पुष्ट और बलवान होती है। इसी प्रकार दुर्बल माता-पिता की संतान दुर्बल ही उत्पन्न होती है। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जन्म के समय शिशु अपनी माता तथा पिता के पूर्वजों की परम्परा के अनुसार ही विभिन्न प्रवृत्तियों तथा आकार का विचित्र सम्मिश्रण होता है। यह आवश्यक नहीं है कि शिशु अपने माता-पिता की भाँति ही हो। क्योंकि जीव-विज्ञान के अनुसार जन्तु पदार्थ (Germ Plasm) का वंशानुक्रम निकटवर्ती नहीं अपितु दूरवर्ती है; अत: यह सम्भव है कि शिशु अपने दूरवर्ती पूर्वजों की भाँति हो। चूहों पर तथा अन्य प्राणियों पर प्रयोग करने के पश्चात् यह सिद्ध हो चुका है कि वंशानुक्रम निकटवर्ती होने की अपेक्षा दूरवर्ती है। माता-पिता केवल इस वंशानुक्रम के संरक्षक तथा निमितमात्र ही हैं। वे उन पैतृक

सम्पत्तियों को अपने शिशुओं को प्रदान करते हैं, जो कि उन्होंने अपने माता-पिता से प्राप्त की हों। इसी प्रकार शिशु भी इन प्रवृत्तियों को क्रमशः अपनी भावी सन्तान को प्रदान करते हैं और इस प्रकार यह प्रक्रिया एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी और दूसरी से तीसरी में चलती रहती है। श्री वैसमैन (Weissman) ने चूहों पर प्रयोग करके जन्तु-जगत् के अस्तित्व की एकरूपता को सिद्ध किया है। उसने चूहों की एक पीढ़ी की पूछें काट दीं, किन्तु यह देखा गया कि उन चूहों की दूसरी पीढ़ी में पूँछें जन्म से ही थीं। अब दूसरी पीढ़ी की पूँछें भी काट दी गई, किन्तु तीसरी पीढ़ी के चूहे भी पूँछों से वंचित न थे। इसी प्रकार क्रमशः कई पीढ़ियों तक इस प्रयोग ने यही बात सिद्ध की। वंशानुक्रम का दूरवर्ती होना प्रकट करता है कि एक पीढ़ी की अर्जित प्रवृत्तियाँ भावी निकटवर्ती पीढ़ी को प्राप्त नहीं होतीं। यह सिद्धान्त इस धारणा पर निर्भर है कि एक व्यक्ति के पुनः उत्पादन करने वाले कोष्ठ (Reproductive Cells) उसकी शारीरिक वृद्धि की क्रिया में भाग नहीं लेते। प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि एक व्यक्ति उसी प्रकार के कीटाणु अपनी सन्तान को देता है जो कि उसने अपने माता-पिता से प्राप्त किये हों। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह वही कीटाणु अपनी संतान को प्रदान करता है।

परिवर्त के नियम—प्राणियों के विकास (Evolution) में परिवर्तन-नियम (Law of Variation) ने एक ही जन्तु-पदार्थ के निरन्तर अस्तित्व को असत्य प्रमाणित किया है। इसके विरुद्ध इस नियम ने यह सिद्ध किया है कि अर्जित प्रवृत्तियाँ भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होती हैं। लैमार्क (Lamark) की धारणा है कि प्राणियों में जीवित रहने की इच्छा के कारण ही परिवर्तन होता है। जिराफ (Giraffe) पशु की ग्रीवा आदि में इतनी लम्बी नहीं थी। केवल इस पशु की वृक्षों की ऊँची-से-ऊँची शाखाओं के पत्ते खाने की प्रबल इच्छा के कारण ही इस प्राणी की ग्रीवा परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए, धीरे-धीरे लम्बी हो गई। डार्विन (Darwin) का मत है कि प्राणियों के विकास में इस प्रकार के परिवर्तन केवल आकस्मिक होते हैं। उनके कथनानुसार अस्तित्व के संघर्ष में केवल योग्यतम (Fittest) प्राणी ही जीवित रह सकते हैं, अतः वे सब प्रवृत्तियाँ,जो कि एक प्राणी को अपने वातावरण के अनुकूल बनाने का सामर्थ्य प्रदान करती हैं, तथा जो इतनी शक्तिशाली होती हैं कि संघर्ष में अपने आप को स्थिर रख सकें, वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान की जाती हैं। अतः उनके विचार में अर्जित प्रवृत्तियाँ वास्तव में भावी सन्तान को प्राप्त नहीं होतीं।

वंश इतिहास की रीति—चाहे वंश-परम्परा दूरवर्ती हो अथवा निकटवर्ती, चाहे विकास में परिवर्तन जीवित रहने की इच्छा के कारण हो अथवा प्राकृतिक संकलन एवं चुनाव (Natural selection) के कारण हो, किन्तु इस बात में सन्देह नहीं कि प्रवृत्तियों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होना माता-पिता के पुनरुत्पादक कोष्ठों

दिन से ही वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वंशानुक्रम मात्र ही, शिशु के व्यक्तित्व की वृद्धि में सर्वेसर्वा है। वातावरण अथवा परिस्थितियाँ भी शिशु के गर्भ में स्थित होने के दिन से ही उस पर अपना प्रभाव डालना आरम्भ करती हैं। यदि वातावरण अनुकूल न हो, यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों, तो शिशु उत्पन्न ही नहीं हो सकता; यदि उसका जन्म हो भी जाय, तो वह जीवित नहीं रह सकता और यदि वह जीवित भी रह जाय तो उसका जीवन मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी हो जाता है। जन्मजात मानसिक तथा शारीरिक गुणों के होते हुए भी, पैतृक प्रतिभा रखते हुए भी वह शिशु जिसे कि पर्याप्त शिक्षा न दी गई हो, और जिसको अपनी सुप्त प्रवृत्तियों के विकास का अवसर ही न मिला हो, एक ऐसे पुष्प के समान है जो कि बिना सूंघे, बिना प्रयोग किये और बिना ही प्रशंसा पाये एक अकेले वन में खिल कर मुरझा जाता है। जिस प्रकार सुखद वायु तथा अनुकूल ऋतु एक पुष्प के खिलने के लिए आवश्यक हैं उसी प्रकार अनुकूल तथा स्वस्थ वातावरण शिशु के मानसिक विकास के लिए भी आवश्यक है। शिशु की प्रवृत्तियाँ, उसकी रुचि और उसकी बुद्धि को निश्चित करने में घर तथा स्कूल का वातावरण बहुत प्रभावशाली रहता है। वातावरणवादी (Environmentalists) तो वंश परम्परा के प्रभाव को किञ्चिन्मात्र भी नहीं मानते। उनकी धारणा है कि जन्म के समय शिशु का मन एक साफ स्लेट की भाँति होता है और उसके व्यक्तित्व का सारा विकास केवल मात्र उस पर उसके वातावरण के प्रभाव का परिणाम होता है।

प्रयोगों का परिणाम—यूरोप के प्रमुख शिक्षालयों में जाँच पड़ताल करने के पश्चात् देखा गया है कि धनाढ्य माता-पिता की संतान वंशानुक्रम, पैतृक गुणों के कारण ही बुद्धिमान नहीं होती, अपितु सर्वश्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त करने के कारण उनकी बुद्धि उत्कृष्ट बनती है। यदि निर्धन माता-पिता तथा मजदूरों के शिशुओं को समान अवसर तथा समान सुविधाएँ दी जायँ, तो वे भी विशेष योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। मरें द्वीप के निवासियों की भाषा में ६ संख्या से अधिक गिनने के लिए शब्द ही नहीं थे। किन्तु स्काटलैण्ड वालों ने जब इस द्वीप पर अधिकार कर लिया, तो उन्होंने इन लोगों को शिक्षा दी। उसका परिणाम यह हुआ कि उनमें से कुछ लोग गणित शास्त्र के विद्वान् बन गये। इससे यह सिद्ध होता है कि पर्याप्त शिक्षा तथा अनुकूल वातावरण के द्वारा मनुष्य के मानसिक विकास को प्रोत्साहन दिया जा सकता है और उसकी सुषुप्त शक्तियों को उपयोग में लाया जा सकता है। यही बात भारतवर्ष में ग्राम-सुधार के द्वारा भी सिद्ध की गई है। दलित जातियों को शिक्षा देने के पश्चात् देखा गया है कि उनमें से बहुत से व्यक्ति देश के नेता बन सकते हैं। वाट्सन (Watson) ने घोषणा की थी कि वह एक शिशु को विशेष परिस्थितियों के द्वारा चोर, निकम्मा अथवा एक महापुरुष बना सकता है।

निःसन्देह उसकी यह धारणा केवल मात्र धारणा ही नहीं है बल्कि शिक्षा तथा बाल-मनोविज्ञान में प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि वातावरण अधिक सीमा तक शिशु के भविष्य का निर्माण करता है। अतः शिक्षक शिशु के चरित्र के निर्माण में बहुत कुछ सहायता दे सकता है। इसी प्रकार माता-पिता भी शिशु को घर पर योग्य वातावरण उत्पन्न करके उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता दे सकते हैं। यह आवश्यक है कि घर में पवित्र तथा शुद्ध वातावरण रखा जाय।

वातावरण में बहुत से ऐसे अंग हैं जो कि एक व्यक्ति पर अपना असर डालते हैं। शिशु पर वातावरण जन्म से पूर्व तथा जन्म के पश्चात्, दोनों अवस्थाओं में प्रभाव डालता है। उदाहरणस्वरूप आहार, विष तथा छूत के रोग शिशु पर गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् प्रभाव डालते हैं। अतः शिशु के विकास में विद्यालय तथा समाज उत्तरदायी हैं और घर का वातावरण विशेष महत्त्व रखता है। साधारणतया दो भाइयों अथवा बहनों के लिए घर का वातावरण समान प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। एक ही घर का वातावरण उन दोनों की विभिन्नता का कारण हो सकता है। दो भाइयों का परस्पर छोटा-बड़ा होना भी प्रकट करता है कि दोनों के लिये वातावरण समान नहीं है। साधारणतया यह असमानता अनावश्यक समझी जाती है, किन्तु शिशु के व्यक्तित्व की वृद्धि के लिये यह अधिक महत्त्व रखती है। इसी प्रकार एक शिशु माँ का लाड़ला होता है और दूसरा पिता का। इस प्रकार उनके सहवास की विषमता उनके बौद्धिक विकास में भी वैषम्य पैदा करती है। इसके अतिरिक्त यह कहना उचित है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना वातावरण स्वयं पैदा करता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति अपने भविष्य का निर्माता है। यदि दो भाई अथवा बहनें परस्पर पैतृक परम्परा में असमान हों तो वे वातावरण में भी अवश्य असमान होंगे। वे भिन्न-भिन्न खिलौनों, भिन्न मित्रों, भिन्न पुस्तकों एवं भिन्न मनोरंजन के साधनों का निर्वाचन करके विभिन्न वातावरण से प्रभावित होंगे। रुचि तथा प्रवृत्ति का भेदात्मक असाम्य वातावरण के प्रभाव के असाम्य का कारण बन जाता है। अतः जब साधारणतया एक ही वातावरण दो भाइयों के व्यक्तित्व के विकास पर भिन्न प्रभाव डालता है तो वास्तविक भिन्न वातावरण उनके व्यक्तित्व में अधिक विभिन्नता का कारण होगा। निःसन्देह शिशु के व्यक्तित्व के विकास में वातावरण अधिक महत्व रखता है।

प्रयोग के द्वारा भी वातावरण के प्रभाव पर काफी प्रकाश डाला गया है। वुडवर्थ ने इस विषय में शिशुओं के एक जोड़े का निम्नलिखित विवरण दिया है :

"सारूप्य जोड़ी की लड़कियाँ भिन्न-भिन्न सम्बन्धियों द्वारा पाँच मास की आयु से ही पाली गईं। उनमें से एक को नगर में और दूसरी को गाँव में रखा गया। नागरिक लड़की को अधिक शिक्षा प्राप्त हुई और वह एक क्लर्क और संगीत के अध्यापन का काम करने लगी।

गँवार लड़की खेत का काम करने में प्रवीण हो गई। अठारह वर्ष की आयु तक दोनों में से किसी का विवाह नहीं हुआ। जब उनकी परीक्षा की गई, तो गाँव वाली लड़की नागरिक लड़की की अपेक्षा एक इंच लम्बी, १८ पौंड अधिक भारी और अधिक हृष्ट-पुष्ट अवस्था में थी। वह अधिक प्रगतिशील, अधिक वाचाल तथा सामान्य रूप से प्रवीण प्रकट होती थी। किन्तु बुद्धि की परीक्षा में नागरिक लड़की ने अधिक अंक प्राप्त किये।

नागरिक लड़की	बुद्धि-लब्धि १०६
गाँव की लड़की	बुद्धि-लब्धि ८८·५

शिक्षा-सम्बन्धी परीक्षाओं में अन्तर प्रायः समान था, किन्तु शारीरिक क्रिया की परीक्षा में अन्तर थोड़ा था। हर परीक्षा में नागरिक लड़की अग्रसर थी।"

उपसंहार—इसमें कोई सन्देह नहीं कि वातावरण शिशु के बौद्धिक विकास में विशेष महत्व रखता है, किन्तु इसका एकमात्र कारण यह नहीं कि वातावरण ही उसके व्यक्तित्व के विकास का कारण है। प्रत्येक पीढ़ी के लिये शिक्षा का होना अत्यावश्यक है। यदि किसी भी पीढ़ी में शिक्षा समाप्त कर दी जाय, तो वह पीढ़ी मानसिक दृष्टिकोण से उन्नति नहीं कर सकती। यदि एक सुशिक्षित और सभ्य वंश में उत्पन्न हुए हुए बालक को एक अशिक्षित तथा असभ्य परिवार में पाला जाय, तो वह अपनी वंश-परम्परा के होते हुए भी उन्नति नहीं कर सकेगा। अतः जन्मजात प्रवृत्तियों को जाग्रत करने के लिये स्वस्थ वातावरण तथा अनुकूल शिक्षा का होना अनिवार्य है। किन्तु केवल मात्र अनुकूल वातावरण शिशु को योग्य बनाने के लिये पर्याप्त नहीं। यदि जन्म से ही एक शिशु अल्प बुद्धि वाला है, तो किसी भी प्रकार की शिक्षा उसको तीक्ष्ण बुद्धि वाला नहीं बना सकती। यदि व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास शिक्षा पर ही निर्भर होता तो शिक्षक सभी बालकों को विलक्षण प्रतिभा वाला बना देता; किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। अतः वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों शिशु के सर्वाङ्गीण विकास में समान महत्व रखते हैं।

प्रायः वंशानुक्रम तथा वातावरण के वाद-विवाद में, शिक्षक शिशु की स्वतन्त्रता को भूल जाते हैं। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शिशु की उन्नति है। शिशु स्वयं एक व्यक्तित्व रखता है और स्वतः ही अपने वातावरण के अनुसार अपनी समस्याओं को सुलझाता है। उसके अन्दर एक अनुपम आत्मिक शक्ति होती है, जो दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जाती है। वह निरन्तर अपने वातावरण से प्रभावित होता चला जाता है और स्वयं वातावरण पर प्रभाव डालता चला जाता है। शिशु जिस वातावरण में उत्पन्न होता है तथा जिस वातावरण से प्रभावित होता है वह एकदम नया अथवा वंश-परम्परा से भिन्न नहीं होता। वास्तव में हमारा वातावरण भी हमारी वंश-परम्परा पर निर्भर है। हमारा इतिहास हमारी सामाजिक प्रवृत्तियाँ, हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारी वेशभूषा, हमारा आचार-विचार एवं ज्ञान-विज्ञान सब हमारे पूर्वजों की देन है। शिशु इन सब प्रवृत्तियों से

प्रभावित होता है। ये प्रवृत्तियाँ उसे वातावरण के रूप में मिलती हैं। इन सब प्रवृत्तियों को हम सामाजिक वंशानुक्रम (Social Heredity) का नाम दे सकते हैं। अतः शिशु के सर्वाङ्गीण विकास में वंशानुक्रम वातावरण एवं सामाजिक वंशानुक्रम का होना आवश्यक है।

अभ्यास

१. वंशानुक्रम तथा वातावरण (वृद्धि तथा विकास पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियाँ) शिशु के व्यक्तित्व के विकास में किस सीमा तक सहायक तथा बाधक होती हैं ?

२. "वंशानुक्रम दूरवर्ती होता है और माता-पिता केवल वंशानुक्रम की धरोहर के रक्षक हैं" उपरोक्त वाक्य कहाँ तक सत्य है ?

३. लैमार्क तथा डार्विन के विकासवाद सम्बन्धी विचार वंश-परम्परा के प्रश्न पर क्या प्रकाश डालते हैं ?

४. भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने वंश-परम्परा के प्रभाव के सम्बन्ध में वंश तथा इतिहास की खोज द्वारा जो कार्य किये, उसकी व्याख्या करिये ?

५. वातावरण अथवा सहवास शिशु के व्यक्तित्व के विकास पर कहाँ तक प्रभाव डालता है ?

६. क्या शिशु बिना शिक्षा के अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है ?

पाँचवां अध्याय

[illegible] तथा ग्रन्थियाँ ([illegible] System and Glands)

१. मन और शरीर

मनोविज्ञान में शारीरिक ज्ञान की आवश्यकता—वंशानुक्रम और वातावरण व्यक्तित्व के दो आधार-स्तम्भ हैं; इसलिये इन दोनों का पूर्ण ज्ञान शिक्षक के लिये आवश्यक है। किन्तु शिशु की मनःक्रिया, उसकी प्रवृत्तियाँ, उसकी भावात्मक एवं विचारात्मक प्रक्रिया उसकी शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्धित हैं। अतः शिक्षक, जो कि शिशु की मनोवृत्ति के अनुसार उसके व्यक्तित्व के विकास का उत्तरदायी है, शारीरिक प्रक्रिया के ज्ञान के बिना अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने बहुत खोज के पश्चात् इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि प्रत्येक मानसिक क्रिया, किसी-न-किसी शारीरिक क्रिया से सम्बन्धित है। केवल इतना ही नहीं, अपितु प्राणि-मात्र में यह देखा गया है कि मानसिक क्रियाओं की जटिलता तथा विस्तार प्रत्येक प्राणी के मस्तिष्क की जटिलता तथा आकार पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में एक प्राणी का मस्तिष्क आकार में जितना बड़ा होगा, और जितना जटिल होगा, उतनी ही उस प्राणी की मनोवृत्तियाँ जटिल तथा विस्तृत होंगी। क्योंकि मनुष्य का मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक जटिल और आकार में (उसके शरीर के अनुपात में) बड़ा होता है, इसलिये मनुष्य की मनोवृत्तियों का विस्तार अधिक होता है और अन्य प्राणियों की अपेक्षा वे अधिक जटिल होती हैं।

मन और शरीर का सम्बन्ध—इसमें कोई सन्देह नहीं कि मस्तिष्क मन का यन्त्र है। यदि मस्तिष्क के किसी भाग में विकार उत्पन्न हो जाय, तो वह अवश्य ही मानसिक विकार का कारण बन जाता है। मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान के विद्वानों ने अनुभव तथा अन्वेषण के पश्चात् मस्तिष्क के बहुत से भागों की विशेष क्रिया को निश्चित किया है। १९१४ के महायुद्ध में बहुत से ऐसे रोगी उपलब्ध हुए, जिनके रोग से यह सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क के विशेष भाग पर आघात होने से, उसी भाग से सम्बन्धित मनःक्रिया विकृत हो जाती है और जब तक मस्तिष्क का आघात स्वस्थ नहीं होता, रोगी का मानसिक स्वास्थ्य भी ठीक नहीं होता। एक सैनिक हवाई जहाज से गिर कर बुरी तरह घायल हो गया। उसे मूर्छित अवस्था में अस्पताल लाया गया। चौबीस घंटों के पश्चात् उसने आँखें खोलीं; किन्तु जब उससे उसका नाम पूछा गया तो वह उत्तर न दे सका। वह अपना अतीत बिलकुल भूल गया। अपने निकटवर्ती सम्बन्धियों तक को न पहचान सका। किसी भी शारीरिक परिचर्या से वह रोगी ठीक न हो सका। अन्त में एक मनोवैज्ञानिक ने उसके सम्बन्धियों

को एक विचित्र सम्मति दी। उसने उनको रात के समय चोरों के वेश में रोगी के कमरे में घुस जाने को कहा। वह स्वयं भी उनके समीप रहा। रोगी ने उठकर अपने सम्बन्धियों से लड़ना आरम्भ किया। उस मनोवैज्ञानिक ने बहुत ज़ोर से रोगी पर प्रहार किया। रोगी फिर मूर्छित हो गया। कुछ घंटों के पश्चात् जब वह होश में आया तो सहसा बोल उठा, "मैं यहाँ कैसे आया, मैं तो युद्ध-क्षेत्र में था" इत्यादि। इस प्रकार वह सब सम्बन्धियों को पहचान गया और विस्मृति के रोग से छुटकारा पा गया। ऐसे बहुत से उदाहरण हमारे जीवन में मिलते हैं। मस्तिष्क पर आघात होने से कई व्यक्ति अन्धे हो जाते हैं और कई व्यक्ति बोलने की शक्ति खो बैठते हैं। केवल इतना ही नहीं अपितु बहुत से व्यक्ति मस्तिष्क पर चोट लग जाने से बिलकुल पागल हो जाते हैं। मस्तिष्क का हमारे सारे शरीर तथा हमारी मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण है। मस्तिष्क के इस नियन्त्रण को पूर्णतया समझने के लिये मस्तिष्क तथा स्नायु-संस्थान की व्याख्या करना आवश्यक है।

स्नायु-संस्थान—मस्तिष्क तथा स्नायु-संस्थान की तुलना एक नगर के टेलीफ़ोन तथा उसके केन्द्र से की जा सकती है। जिस प्रकार नगर के सब टेलीफोन के तारों का सम्बन्ध एक केन्द्र से होता है, और जिस प्रकार वह केन्द्र भिन्न-भिन्न टेलीफोनों को परस्पर सम्बन्धित करता है, ठीक उसी प्रकार शरीर के स्नायुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्क स्नायुओं का केन्द्र अथवा आदेशों का स्रोत है। हमारा सारा शरीर स्नायुओं के द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्धित रहता है। स्नायु, जो कि बहुत सूक्ष्म तन्तु होते हैं, शरीर के अंग-अंग में समाये हुए हैं। वे बाहरी विषयों के द्वारा उत्पन्न की हुई उत्तेजना को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं और पुनः उन बाहरी विषयों के प्रति विशेष व्यवहार करने का आदेश मस्तिष्क से माँस-पेशियों तक लाते हैं। उदाहरणस्वरूप जब हम किसी उष्ण वस्तु को छूते हैं, तो अंगुलियों में स्थित स्नायु उष्णता की उत्तेजना को तुरन्त मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। मस्तिष्क में स्नायु-कोष्ठ (Nerve Cells) प्रस्फुटित होते हैं और हमें ताप का आभास होता है। ऐसा आभास होते ही मस्तिष्क आदेश देता है कि हाथ को उष्ण वस्तु से तुरन्त हटा लिया जाय। यह आदेश विशेष स्नायुओं द्वारा भुजाओं की माँसपेशियों तक पहुँचाया जाता है और हम तुरन्त ही अपना हाथ उष्ण वस्तु से खींच लेते हैं। इसी प्रकार देखने की, सुनने की, सूँघने की तथा जिह्वा द्वारा रसास्वादन की क्रियाएँ स्नायुओं के द्वारा मस्तिष्क तक उत्तेजना पहुँचाये जाने से होती हैं।

चित्र १.

स्नायु अथवा नाड़ियां दो प्रकार की होती हैं—(१) ज्ञानवाही (Sensory or afferent nerves) अथवा अन्तर्गामी (In going) स्नायु तथा (२) गतिवाही (Motor or efferent
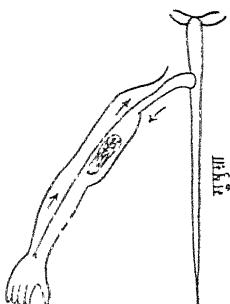
nerves) अथवा बहिर्गामी (Out-going) स्नायु। ज्ञानवाही तथा अन्तर्गामी स्नायु वे स्नायु अथवा नाड़ियाँ हैं, जो बाहरी विषयों का ज्ञान मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। वे एक प्रकार की उत्तेजनारूपी तरंग को बाहर से अन्दर की ओर फेंकती हैं। क्योंकि उनका कार्य बाहरी विषयों के ज्ञान को शरीर के अन्दर ले जाना है, अतः इनको अन्तर्गामी स्नायु कहा जाता है। गतिवाही अथवा बहिर्गामी स्नायु या नाड़ियाँ मस्तिष्क के आदेश को माँस-पेशियों तक पहुँचाती हैं। क्योंकि उनका कार्य गति उत्पन्न करना है, इसलिये उनको गतिवाही स्नायु कहा जाता है। क्योंकि गतिवाही नाड़ियाँ मस्तिष्क के आदेश को बाहर ले जाती हैं, इसलिये उन्हें बहिर्गामी नाड़ियां भी कहा जाता है। प्रत्येक नाड़ी स्वयं सूक्ष्मतम तन्तुओं का एक समूह-सी होती है। हमारे शरीर में सबसे बड़ी नाड़ी दृष्टि की नाड़ी (Optic nerve) है, जो कि हमारे नेत्र को मस्तिष्क से मिलाती है। यह नाड़ी चालीस लाख सूक्ष्म तन्तुओं की बनी हुई है। नाड़ियों के तन्तु बहुत ही कोमल होते हैं किन्तु वे प्रायः काफी लम्बे होते हैं। बहुत से एक गज़ लम्बे भी होते हैं। प्रत्येक ज्ञानवाही स्नायु तन्तु एक ज्ञानेन्द्रिय से स्नायु-केन्द्र (Nerve centre) तक पहुँचता है। इसी प्रकार प्रत्येक गतिवाही स्नायु तन्तु किसी स्नायु-केन्द्र से विशेष माँसपेशी तक पहुँचता है। यदि कोई स्नायु किसी दुर्घटना से कट जाय और उसका सम्बन्ध माँसपेशी से विच्छिन्न हो जाय, तो वह माँसपेशी काम नहीं कर सकती, इसी प्रकार यदि किसी ज्ञानेन्द्रिय की नाड़ी विच्छिन्न हो जाय, तो वह ज्ञानेन्द्रिय काम नहीं कर सकती, क्योंकि उस ज्ञानेन्द्रिय का सम्बन्ध मस्तिष्क से विच्छिन्न हो जाता है।

स्नायुओं की व्यवस्था—स्नायु-संस्थान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये स्नायुओं की व्याख्या करना आवश्यक है। हमारे शरीर का स्नायु-संस्थान बहुत से छोटे-छोटे स्नायु-कोष्ठों (Nerve cells) के संगठन से बना हुआ है। एक स्नायुकोष्ठ को उसकी शाखाओं के समेत न्यूरोन (Neuron) कहा जाता है। बहुत से न्यूरान एक आधार-तन्तु से जुड़े हुए होते हैं और उनके समीप रक्तवाहिनियां (Blood vessels) रही हैं। बहुत से स्नायु-कोष्ठों की दो प्रकार की शाखाएँ होती हैं। एक अकेली शाखा होती है, जिनको एग्ज़ोन (Axon) कहते हैं। दूसरी बहुत सी होती हैं, जिनको डेन्डराइट्स (Dendrites) कहते हैं। डेन्डराइट्स वृक्ष की शाखाओं की भांति बहुत छोटी शाखाएँ होती हैं, किन्तु एग्ज़ोन एक बहुत लम्बी शाखा होती है। गतिवाही नाड़ियों के एग्ज़ोन, मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना में स्थित स्नायु-

चित्र २.
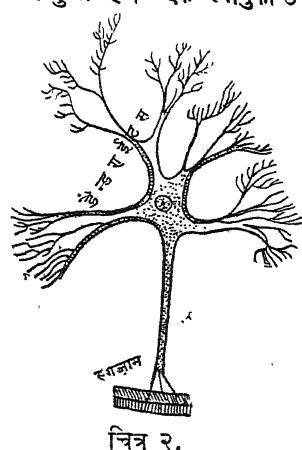
कोष्ठों की शाखाएँ होती हैं। ये गतिवाही एग्ज़ोन मस्तिष्क अथवा सुषुम्ना से बाहर की ओर किसी माँसपेशी अथवा रसोत्पादक ग्रन्थि (Gland) की ओर फैले हुए होते हैं। इसके विरुद्ध ज्ञानवाही नाड़ियों के एग्ज़ोन स्नायु-कोष्ठों की वे शाखाएँ हैं, जो किसी-न-किसी ज्ञानेन्द्रिय से आरम्भ हो कर मस्तिष्क में समाप्त होती हैं। सब न्यूरोन एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। प्रत्येक एग्ज़ोन दूसरे न्यूरोन की शाखाओं अथवा डैन्डराइट्स से जुड़ा हुआ होता है। इनके इस सम्बन्ध के कारण ही उत्तेजना की तरंग ज्ञानेन्द्रियों से मस्तिष्क तक पहुँचती है और मस्तिष्क का आदेश माँसपेशियों तक पहुँचता है।

सुषुम्ना—ज्ञानवाही तथा गतिवाही सूक्ष्म नाड़ियाँ सुषुम्ना (Spinal cord) में सम्मिलित होती हैं। सुषुम्ना हमारी रीढ़ की हड्डी में सुरक्षित होती हैं। सुषुम्ना प्रायः व्यक्ति की सबसे छोटी अँगुली के बराबर मोटी होती है। सुषुम्ना के स्नायु-कोष्ठ भूरे तथा श्वेत पदार्थ के होते हैं। सुषुम्ना में से ३१ स्नायुओं के जोड़े निकलते हैं। सुषुम्ना से निकलते हुए स्नायु दो स्थानों पर सुषुम्ना में धँसे हुए होते हैं। उस स्नायु का एक भाग ज्ञानवाही और दूसरा गतिवाही होता है। वास्तव में ये दो स्नायु होते हैं, किन्तु सुषुम्ना से बाहर निकल कर वे ऐसे जुड़ जाते हैं कि एक प्रतीत होते हैं। एक साधारण बिजली के तार की भाँति, जो कि वास्तव में दो तारों का जोड़ा होता है, ये स्नायु सुषुम्ना से निकलकर शरीर में फैल जाते हैं। सुषुम्ना की नाड़ियाँ हमारी साधारण क्रियाओं का कारण हैं। प्रत्येक प्राणी की हाथों-पैरों की अनियमित गति सुषुम्ना के द्वारा होती है। एक मेंढक, जिसका मस्तिष्क निकाल लिया गया हो, केवल सुषुम्ना के कारण हाथ-पाँव हिला सकता है, किन्तु वह चल नहीं सकता और न ही तैर सकता है। हमारी बहुत सी सहज क्रियाएँ सुषुम्ना के द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक होती हैं। सुषुम्ना, स्वतन्त्र स्नायु-केन्द्र होने के अतिरिक्त सारे शरीर का मस्तिष्क से सम्बन्ध बनाये रखती है। वह बाहरी विषयों के प्रति स्नायुओं द्वारा लाया गया समाचार मस्तिष्क तक पहुँचाती है और मस्तिष्क गतिवाही स्नायुओं के द्वारा हमारी मांसपेशियों तक अनुकूल आदेश भेजता है। छोटी-छोटी क्रियाओं में सुषुम्ना मस्तिष्क के आदेश के बिना ही स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती है। यदि किसी स्नायु का सम्बन्ध सुषुम्ना से कट जाय तो वह स्नायु किसी प्रकार का आदेश ज्ञानेन्द्रिय से सुषुम्ना तक नहीं पहुँचा सकता। जब किसी अंग से सम्बन्धित नाड़ियाँ सुषुम्ना से कट जाती हैं, तो वह अंग मृतक-सा हो जाता है। इसी मृतक अवस्था को लकवा कहते हैं।

सुषुम्नाशीर्ष—सुषुम्ना मस्तिष्क की ओर रीढ़ की हड्डी में से ऊपर को बढ़ती है और ग्रीवा की हड्डी में लघु मस्तिष्क के नीचे सुषुम्नाशीर्ष (Medulla Oblongata) में परिवर्तित हो जाती है। सुषुम्नाशीर्ष स्नायुओं द्वारा एक ओर मस्तिष्क से और दूसरी ओर सुषुम्ना से सम्बन्धित रहता है। अतः यह सुषुम्ना और मस्तिष्क के बीच सूचनाओं

तक आदेशों के पहुँचाने का साधन है। सुषुम्नाशीर्ष का आधार त्रिकोण का-सा होता है। हमारे शरीर की ऐसी क्रियाएँ, जो कि इच्छा-शक्ति से स्वतन्त्र होती हैं, सुषुम्नाशीर्ष के द्वारा संचालित होती हैं। उदाहरणस्वरूप हृदय तथा रुधिर-संचार सुषुम्नाशीर्ष के अधीन होता है। इसी प्रकार हमारी श्वास-क्रिया तथा पाचन-क्रिया भी सुषुम्नाशीर्ष के अधीन होती हैं। अतः सुषुम्नाशीर्ष एक स्वतन्त्र स्नायु-केन्द्र के रूप में कार्य करता है, किन्तु कभी-कभी मस्तिष्क भी इसके कार्यों पर नियन्त्रण करता है। सुषुम्नाशीर्ष के द्वारा संचालित क्रियाएँ हमारे जीवन का आधार होती हैं अतः इसको आघात पहुँचने पर प्रायः मृत्यु हो जाती है। यह अंग बहुत कोमल होता है और हमारे जीवन का आधार है।

लघु मस्तिष्क—लघु मस्तिष्क (Cerebellum) सुषुम्नाशीर्ष के ऊपर स्थित होता है। इसका ऊपरी भाग बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) से सम्बन्धित होता है। स्नायु-संस्थान का यह अंग हमारी उन सब क्रियाओं का नियन्त्रण और संचालन करता है, जिन में हमें पूर्व कल्पित संकल्प अथवा इच्छा शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ता। ऐसी क्रियाएँ वे क्रियाएँ हैं, जो कि हम आदत के द्वारा सीखते हैं अथवा जो हमारे जीवन के लिये आवश्यक होने के कारण हमारी आदतें बन जाती हैं। उदाहरणस्वरूप तैरना, चलना, दौड़ना तथा उठना-बैठना इत्यादि सब क्रियाएँ लघुमस्तिष्क के अधीन होती हैं। ये सब क्रियाएँ स्वयं ही हमारी चेतना के बिना लघु मस्तिष्क के द्वारा की जाती हैं। किन्तु जब कभी इनमें कोई बाधा पड़ जाती है और इनके करने में हमें संकल्प अथवा इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है, तो उस समय ये क्रियाएँ बृहत् मस्तिष्क के आदेश पर होती हैं। लघु मस्तिष्क की एक आवश्यक क्रिया हमारे शरीर का संतुलन (Equilibrium) बनाये रखना है। जब कभी हम गिरने लगते हैं, तो लघु मस्तिष्क हमारे शरीर का संतुलन रखकर हमें बचा देता है। वास्तव में चलना-फिरना, साइकल चलाना एवं तैरना इत्यादि क्रियाएँ संकल्प और इच्छा-शक्ति के प्रयोग से बृहत् मस्तिष्क के द्वारा ही ग्रहण की जाती हैं। किन्तु जब ये क्रियाएँ पूर्णतया सीख ली जाती हैं, तो उनके संचालन का कार्य-भार लघु मस्तिष्क को सौंप दिया जाता है। लघु मस्तिष्क के दो भाग होते हैं। वे दोनों ही श्वेत स्नायु-तन्तुओं के बने हुए होते हैं और एक पतले-से धूसर-कोष्ठों के पर्दे से ढके हुए होते हैं। लघु मस्तिष्क का आकार लहरों के समान होता है। इसमें काफ़ी गहरे गड्ढे होते हैं।

बृहत् मस्तिष्क—बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum), जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, मनुष्य के स्नायु-संस्थान में सबसे बड़ा केन्द्र है। वास्तव में यह स्नायु-संस्थान का सर्वोच्च कार्यालय है। यह खोपड़ी के अधिकतम भाग में फैला हुआ है। इसके दो भाग होते हैं, जिनको दायाँ और बायाँ गोलार्ध कहा जाता है। बृहत् मस्तिष्क का दायाँ गोलार्ध शरीर के बायें भाग पर नियन्त्रण करता है और बायाँ गोलार्ध शरीर के दायें

भाग की क्रियाओं का संचालन करता है। मस्तिष्क में बहुत से गड्ढे होते हैं। बृहत् मस्तिष्क का प्रत्येक भाग विशेष मानसिक क्रियाओं से सम्बन्धित रहता है। मस्तिष्क का अग्रभाग गतिवाही भाग कहलाता है। माँसपेशियों तथा त्वचा के द्वारा क्रियाओं का नियन्त्रण मस्तिष्क के केन्द्रीय गड्ढे के पीछे की ओर निकटवर्ती भाग के द्वारा होता है। इसी प्रकार दृष्टि-सम्बन्धी भाग, श्रवण सम्बन्धी भाग, इत्यादि सब बृहत् मस्तिष्क में स्थित होते हैं।
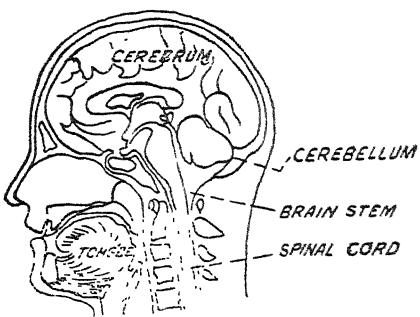
वास्तव में शरीर की सब आवश्यक क्रियाएँ एवं मानसिक क्रियाएँ बृहत् मस्तिष्क पर निभर हैं। बृहत् मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त की हुई उत्तेजना को ज्ञान में परिणत करता है और इस प्रकार बाहरी विषयों के प्रति हमें सजग बनाता है। न केवल इतना ही, अपितु बाहरी विषयों के प्रति हम जो व्यवहार करते हैं, वह भी बृहत् मस्तिष्क के आदेश के अनुसार ही होता है। बृहत् मस्तिष्क हमारी क्रियाओं का सामंजस्य संकलन, संश्लेषण तथा विश्लेषण करता है। हमारी सर्वोच्च मानसिक क्रियाएँ, विचार, स्थायीभाव, संकल्प, स्मृति और कल्पना इत्यादि सब बृहत् मस्तिष्क के नियन्त्रण में होती हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बृहत् मस्तिष्क स्नायु-संस्थान के अन्य केन्द्रों पर भी नियन्त्रण रखता है। लघु मस्तिष्क, सुषुम्नाशीर्ष तथा सुषुम्ना स्नायु-संस्थान में स्वतन्त्र केन्द्र होते हुए भी बृहत् मस्तिष्क पर निर्भर रहते हैं।

ग्रन्थियों का ज्ञान—शिशु के व्यक्तित्व के विकास को पूर्णतया समझने के लिये उन तमाम शारीरिक क्रियाओं का जानना आवश्यक है जो कि उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती हैं और उसकी मानसिक अवस्था में परिवर्तन का कारण हो सकती हैं। शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक खोज के पश्चात् जो प्रकाश अन्तर्वाही रसोत्पादक ग्रन्थियों (Endocrine glands) पर डाला गया है, वह शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है। अन्तर्वाही रसोत्पादक ग्रन्थियाँ अथवा एण्डोक्राइन ग्रन्थियाँ वे ग्रन्थियाँ हैं,

जो कि एक विशेष प्रकार का पदार्थ (Hormone) हमारे रुधिर में छोड़ती हैं। इस पदार्थ को अंग्रेज़ी भाषा में हारमोन कहते हैं। एक अन्तर्वाही रसोत्पादक ग्रन्थि एक या एक से अधिक हारमोन उत्पन्न करती है। यह हारमोन शरीर अथवा शरीर के विशेष अंगों में स्फूर्ति अथवा प्रमाद उत्पन्न करते हैं। अतः इन ग्रन्थियों की क्रिया का जानना शिक्षक के लिए लाभदायक है।

थाईरायड-ग्रन्थि (Thyroid gland)--यह ग्रन्थि हमारे गले के आरम्भ में आगे की ओर स्थित है। प्रायः यह ग्रन्थि किशोरावस्था के बाद गले में स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होती है। यह ग्रन्थि ऐसा पदार्थ उत्पन्न करती है, जो एक व्यक्ति को सजग तथा क्रियाशील बनाये रखता है। जब किसी रोग के कारण यह ग्रन्थि दूषित हो जाती है तो मनुष्य सुस्त हो जाता है; उसकी त्वचा फूल-सी जाती है और उसका मस्तिष्क तथा माँस-पेशियाँ सुस्त हो जाती हैं। वह व्यक्ति ढीला, मूर्ख और स्मृति-शून्य हो जाता है। न वह दत्तचित्त होकर किसी कार्य में संलग्न हो सकता है; न विचार सकता है और न कोई कार्य सफलतापूर्वक कर सकता है। कई बार इसी ग्रन्थि के दोष से शिशुओं की मानसिक तथा शारीरिक उन्नति रुक जाती है। कद का छोटा होना भी इसी ग्रन्थि के ही दोष के कारण होता है। अतः ऐसे दोषों को दूरकर ने के लिए पशुओं की थाईरायड ग्रन्थि का रस निकालकर रोगी को दिया जाता है और इस तरह से उसकी कमी को पूरा किया जाता है। यदि यह ग्रन्थि आवश्यकता से अधिक स्फूर्ति से काम करती हो तो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक लम्बा और आवश्यकता से अधिक चपल होता है।

एड्रीनल ग्रन्थियाँ—एड्रीनल (Adrenal) ग्रन्थियाँ गुर्दे (Kidneys) के निकट स्थित होती हैं। ये ग्रन्थियाँ एक बहुत शक्तिशाली हारमोन को उत्पन्न करती हैं। इस हारमोन की थोड़ी मात्रा रुधिर-संचार में विशेष परिवर्तन का कारण बन जाती है। रुधिर का संचार तीव्र हो जाता है। कई बार जब यह हारमोन रुधिर में परिवर्तन उत्पन्न करता है तो आमाशय और अन्तड़ियाँ अपना कार्य बन्द कर देती हैं। जिस समय हम क्रोध का अनुभव करते हैं, तो यह ग्रन्थि तीव्रता से काम करती है और सारे शरीर में एक विद्युत् की-सी स्फूर्ति का अनुभव होता है। इसी ग्रन्थि के कारण क्रोध के समय प्रायः भूख नहीं लगती। यदि यह ग्रन्थि ठीक क्रिया न करती हो, तो कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस ग्रन्थि की क्रिया पुरुष में तथा स्त्री में आवश्यकता से अधिक पुरुषत्व के चिह्नों का कारण होती है। स्त्रियों में इस ग्रन्थि की आवश्यकता से अधिक क्रिया उनकी आवाज़ को अधिक गम्भीर बना देती है तथा दाढ़ी मूँछ निकलने का कारण होती है।

पिच्यूटरी ग्रन्थि (Pituitary gland)—पिच्यूटरी ग्रन्थि ग्रन्थियों में सर्वप्रधान ग्रन्थि मानी जाती है। यह ग्रन्थि आकार में बहुत छोटी और मस्तिष्क के निचले भाग के साथ जुड़ी हुई होती है। इस ग्रन्थि की प्रधानता का कारण यह है कि इसके द्वारा उत्पादित हारमोन

अन्य रसोत्पादक ग्रन्थियों पर नियन्त्रण करते हैं। यह विचार किया जाता है कि यह ग्रन्थि सम्भवतः मस्तिष्क से प्रभावित होती है। अन्य सब ग्रन्थियाँ इसी ग्रन्थि से उत्पन्न हारमोनों के द्वारा ही स्वस्थ अवस्था में रहती हैं। यदि पिच्यूटरी ग्रन्थि अन्य ग्रन्थियों को अपने हारमोन न पहुँचाये, तो सब ग्रन्थियों की वृद्धि और क्रिया रुक जाती है। इसी कारण यह ग्रन्थि मनुष्य के शरीर, उसकी माँसपेशियों तथा हड्डियों की वृद्धि पर प्रभाव डालती है। यदि यह ग्रन्थि शैशवावस्था में आवश्यकता से अधिक काम करती हो, तो हड्डियाँ तथा मांसपेशियाँ शीघ्रतापूर्वक बढ़ जाती हैं और जिस व्यक्ति में यह ग्रन्थि बहुत तीव्रता से क्रिया करती हो, वह आवश्यकता से अधिक लम्बा हो जाता है। किन्तु इसका परिणाम यह होता है कि यह ग्रन्थि शीघ्र जीर्ण हो जाती है और उस व्यक्ति की युवावस्था में ही मृत्यु हो जाती है। यदि शैशवावस्था में यह ग्रन्थि असाधारणतया धीरे क्रिया करती हो, तो उस व्यक्ति की शारीरिक वृद्धि या तो बहुत धीरे-धीरे होती है या रुक जाती है। अतः इस ग्रन्थि का स्वस्थ होना हमारी शारीरिक वृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है।

उपरोक्त ग्रन्थियों की क्रिया से यह स्पष्ट है कि सब ग्रन्थियों का स्वस्थ होना शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिए अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रायः बहुत से शिशुओं की ग्रन्थियाँ स्वस्थ क्रिया करती हैं, किन्तु कई बार शिशुओं की शारीरिक वृद्धि रुक जाने का कारण ग्रन्थियों के दोष ही होते हैं। अतः शिक्षक के लिये ग्रन्थियों की क्रिया को जानना आवश्यक है। वह इस ज्ञान के द्वारा शिशुओं की रुकी हुई शारीरिक वृद्धि के उपचार में उचित सहायता प्राप्त कर सकता है। अधिकतर माता-पिता प्रायः शिशु की रुकी हुई शारीरिक वृद्धि का कारण केवल मात्र खाने-पीने की कमी को ही मानते हैं और उनको अधिक-से-अधिक भोजन खिलाने का प्रयत्न करते हैं उसका परिणाम यह होता है कि शिशु हृष्ट-पुष्ट होने की अपेक्षा अधिक भोजन खिलाये जाने के कारण रुग्ण हो जाता है। ऐसे बालकों को यदि ठीक प्रकार से उनकी ग्रन्थियों का दोष पहचान कर उचित उपचार किया जाय तो वे हृष्ट-पुष्ट हो सकते हैं।

अभ्यास

१. मस्तिष्क तथा स्नायु-संस्थान का शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या महत्त्व है?
२. मस्तिष्क तथा मन का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा मानसिक क्रियाओं पर शारीरिक क्रियाओं का कहाँ तक प्रभाव पड़ता है?
३. ज्ञानवाही तथा गतिवाही स्नायु किसे कहते हैं और उनका स्नायु-संस्थान में क्या स्थान है?
४. सुषुम्ना किसे कहते हैं? उसकी क्रिया पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि कौन-कौन-सी क्रिया में सुषुम्ना स्वतन्त्र केन्द्र के रूप में काम करती है?

५. सुषुम्नाशीर्ष, लघु मस्तिष्क तथा मस्तिष्क की व्याख्या करते हुए उनकी क्रियाओं पर प्रकाश डालो ।

६. रसोत्पादक ग्रन्थियों अथवा गिल्टियों का क्या अर्थ है ? वे गिल्टियाँ कौन-कौन सी हैं और उनका व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

छठा अध्याय

मूल प्रवृत्तियाँ

मूल प्रवृत्तियों का स्वरूप

मूल प्रवृत्तियों का स्थान—शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शिशु के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य उसकी शक्तियों तथा उसकी प्रवृत्तियों को इस प्रकार से विकसित करना है कि वह शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझा सके तथा अपने वातावरण पर विजय प्राप्त कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिशु की जन्मजात तथा अर्जित प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। प्रारम्भ से ही शिशु सहज क्रियाओं तथा मूल प्रवृत्तियों को वंश-परम्परा के नियमानुसार प्राप्त करता है। उसको ये सब क्रियाएँ सीखनी नहीं पड़ती। ये जन्मजात क्रियाएँ अन्य प्राणियों में भी उपस्थित रहती हैं और उनका जीवन प्रायः केवल इन्हीं के आधार पर होता है। मनुष्य का शिशु भी अन्य पशुओं की भाँति काफी समय तक केवल मात्र इन्हीं क्रियाओं के आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। किन्तु वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, उसकी क्रियाओं में विशेषता उत्पन्न होती चली जाती है और वह इन जन्मजात प्रवृत्तियों की अपेक्षा अर्जित क्रियाओं तथा संकल्पक क्रियाओं के आधार पर व्यवहार करने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सहज क्रियाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ आयु-पर्यन्त मनुष्य के साथ रहती हैं; किन्तु किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में इनका महत्व अर्जित क्रियाओं की अपेक्षा मनुष्य के जीवन में कुछ कम हो जाता है। सहज क्रियाओं पर हम एक अन्य अध्याय में प्रकाश डालेंगे, किन्तु मूल-प्रवृत्तियों की व्याख्या इसी अध्याय में देना आवश्यक है। जहाँ तक अर्जित क्रियाओं का सम्बन्ध है, उनका वर्णन भी उचित स्थान पर किया जायगा।

शिक्षा में महत्व—मूल प्रवृत्तियों का ज्ञान शिक्षक के लिये इतना आवश्यक तथा अनिवार्य है, जितना कि एक सामुद्रिक जहाज के संचालक के लिये जहाज के इंजिन, उस की वाष्प-शक्ति तथा उसको आगे धकेलने वाले पंखों का ज्ञान रखना आवश्यक होता है। मूल-प्रवृत्तियाँ बालक की अवगुंठित शक्तियाँ हैं, जो उसकी हर क्रिया में सहायक हो सकती हैं। किन्तु जिस प्रकार अज्ञान के कारण जहाज का संचालक, जिसको कि जहाज के इंजिन तथा उसकी वाष्प-शक्ति के प्रयोग का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, अपने जहाज को किसी चट्टान से टकराकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वह शिक्षक जिसको कि मूल-प्रवृत्तियों का ज्ञान नहीं, बालक रूपी जहाज़ को निर्बाध रूप से किनारे पर नहीं लगा सकता। शिक्षक

तथा माता-पिता प्रायः शिशु की मूल प्रवृत्तियों की केवल अवहेलना ही नहीं करते अपितु उसकी बहुत सी मूल प्रवृत्तियों को बुरा जानकर उनका दमन भी करते हैं, जब कि उनको वास्तव में इन्हीं प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक रीति से सदुपयोग करना चाहिए। उदाहरण-स्वरूप शिशु के लड़ने की मूल प्रवृत्ति को अवांछनीय समझा जाता है, जब कि वास्तव में यही मूल प्रवृत्ति शोध के द्वारा उसको गणित-शास्त्र का एक विद्वान् बना सकती है। इसी प्रकार प्रायः काम-प्रवृत्ति के प्रति बहुत सी भ्रान्ति-पूर्ण तथा विपरीत धारणाएँ विद्यमान हैं। मूल प्रवृत्तियों के सदुपयोग तथा उनके शिक्षा में महत्व आदि पर आगे विचार किया जायगा। किन्तु इससे पहले हमें मूल प्रवृत्तियों की परिभाषा तथा उनके परिवर्तन के बारे में कुछ जान लेना चाहिये।

मूल प्रवृत्ति की परिभाषा—मूल प्रवृत्तियाँ प्राणि-मात्र की वे जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके द्वारा वह बिना सीखे ही विशेष अवस्था में विशेष प्रकार की क्रिया करता है और विशेष प्रकार से प्रभावित होता है। वास्तव में मूल प्रवृत्तियों को क्रिया नहीं माना जा सकता, क्योंकि मूल प्रवृत्ति न केवल क्रियात्मक है, अपितु भावात्मक एवं ज्ञानात्मक भी है। अतः मूल प्रवृत्ति एक विशेष प्रकार की वृत्ति है अथवा विशेष प्रकार का ढाँचा है, जो कि हमारे क्रियात्मक, भावात्मक एवं ज्ञानात्मक व्यवहार को विशेष रूप देता है। अतः मूल-प्रवृत्यात्मक व्यवहार वह व्यवहार है, जो कि मूल प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित हो कर किया गया हो। उदाहरणस्वरूप जब एक व्यक्ति जंगल में अपने समक्ष एक शेर को देखता है तो वह भयभीत होकर किसी सुरक्षित स्थान की ओर दौड़ता है। वास्तव में यह व्यवहार प्रवृत्यात्मक है, जिसमें कि वह व्यक्ति भागने की मूल प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विशेष प्रकार का व्यवहार करता है। उसके इस व्यवहार में मानसिक प्रक्रिया के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक, तीनों अंग उपस्थित हैं। इसी कारण मैकडूगल ने मूल प्रवृत्ति की निम्नलिखित परिभाषा दी है :

"हम मूल प्रवृत्ति को एक ऐसी जन्मजात प्रवृत्ति कह सकते हैं, जो कि एक विशेष प्राणी को किसी विशेष घटना से सचेत रहने के लिए प्रेरित करती है। उसकी उपस्थिति में विशेष संवेगात्मक उत्तेजना तथा ऐसी क्रियात्मक प्रेरणा का अनुभव कराती है, जो कि उस विषय के सम्बन्ध में विशेष व्यवहार के रूप में प्रकट होती है।" उदाहरणस्वरूप जब एक मुर्गी का बच्चा बिल्ली को देखता है तो वह भयभीत होकर सीधा अपनी माँ के पास दौड़ता है। इसी प्रकार जब वह किसी कुत्ते व अन्य पशु को देखता है, जो कि उसके लिये भयदायक होते हैं, वह सर्वदा वैसा ही व्यवहार करता है। यह सब कुछ उसकी भयोत्पादक वस्तुओं से दूर भागने की मूल प्रवृत्ति के कारण होता है। इसी प्रकार का व्यवहार हम सब उत्सुकता, भोजन ढूँढने तथा रचना इत्यादि की मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर करते हैं।

मुख्य मूल प्रवृत्तियाँ—मूल प्रवृत्तियों की संख्या के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों का मतभेद है। भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों ने दो से लेकर चालीस संख्या तक मूल प्रवृत्तियों की सूची दी है। किन्तु श्री मैकडूगल ने चौदह मूल-प्रवृत्तियों को मुख्य मानवीय प्रवृत्तियाँ माना है, जो निम्नलिखित हैं :

(१) **अपत्य प्रवृत्ति अथवा प्रभाव प्रवृत्ति** (Parental Instinct)—मैकडूगल इस प्रवृत्ति को 'प्रकृति का सर्वोत्तम तथा सब से सुन्दर आविष्कार तथा नैतिकता और प्रतिभा की जननी' मानते हैं। माता-पिता का अपनी सन्तान के प्रति विशेष स्नेहयुक्त व्यवहार इसी प्रवृत्ति के आधार पर है। जब यह प्रवृत्ति प्रेरित होती है, माता-पिता को अपनी सन्तान के प्रति रक्षा करने अथवा उनको भोजन देने के लिये विशेष प्रकार का व्यवहार करने को बाधित तक करती है। यह प्रवृत्ति छोटे-छोटे प्राणियों से लेकर मनुष्य-मात्र में उपस्थित रहती है।

(२) **लड़ने की प्रवृत्ति** (Instinct of Combat)—यह प्रवृत्ति उस समय प्रेरित होती है, जब किसी व्यक्ति की किसी क्रिया में बाधा डाली जाय। जब किसी पशु के बच्चों को डराया जाय तो वह पशु तुरन्त लड़ने को उद्यत हो जाता है। यह प्रवृत्ति न केवल अपत्य प्रवृत्ति में बाधा डालने से प्रेरित होती है, अपितु मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों की किसी भी मूल-प्रवृत्यात्मक क्रिया में बाधा डालने से उत्तेजित हो सकती है। उदाहरणस्वरूप जब कुत्ते से भोजन छीनने का प्रयत्न किया जाय तो वह तुरन्त काटने को उद्यत हो जायगा।

(३) **उत्सुकता की प्रवृत्ति** (Instinct of Curiosity) यह मूल प्रवृत्ति उस समय प्रेरित होती है, जब कि कोई विचित्र अथवा आश्चर्यजनक वस्तु हमारे सामने प्रकट होती है। यही प्रवृत्ति हमें प्रत्येक नई वस्तु के प्रति पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रेरित करती है।

(४) **भोजन ढूंढने की प्रवृत्ति** (Food seeking Instinct)—यह प्रवृत्ति प्राणि मात्र के जीवन का आधार है और जीवन की रक्षा के दृष्टिकोण से इसका स्थान सर्व-प्रथम है। यह प्रवृत्ति भोजन की गन्ध के कारण तथा हमारे आमाशय की विशेष अवस्था के कारण प्रेरित होती है। इस प्रकार यह भूख तथा भोजन ढूँढ़ने की क्रियाओं का आधार है। इसमें हम न केवल भोजन ही ढूँढते हैं, अपितु उसको ढूँढ लेने के पश्चात् उसको खाने की क्रिया भी करते हैं।

(५) **अस्वीकार करने की प्रवृत्ति** (Instinct of Repulsion)—यह मूल प्रवृत्ति हमें अवांछनीय वस्तु को अस्वीकार करने के लिये प्रेरित करती है। जब हम किसी दुर्गन्ध वाले स्थान से गुजरते हैं तो हमारी यह प्रवृत्ति जाग्रत होती है और हम दुर्गन्ध से दूर हटने का प्रयत्न करते हैं।

(६) **आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति** (Instinct of Escape)—यह प्रवृत्ति हमें हर प्रकार की भयोत्पादक घटनाओं तथा विपदों से दूर भाग जाने के लिये प्रेरित करती है। प्रायः भयानक शब्द इस प्रवृत्ति को उत्तेजित करता है। इसी प्रकार कोई भी बड़ी वस्तु, जो सहसा चलती हुई नज़र आय, हमारी आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति को जाग्रत करती है।

(७) **समुदाय में रहने की प्रवृत्ति** (Gregarious Instinct)—यह मूल प्रवृत्ति हमें अन्य लोगों की संगति में रहने के लिये प्रेरित करती है। अन्य प्राणियों को भी यही प्रवृत्ति सामूहिक क्रिया के लिये प्रेरित करती है। उदाहरणस्वरूप भेड़ों का एक ही रास्ते पर चलना समुदाय में रहने की प्रवृत्ति के कारण है।

(८) **आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति** (Instinct of Self-assertion)—यह प्रवृत्ति उस समय प्रकट होती है जब कि एक व्यक्ति अपने से हीन अथवा निम्नपद के व्यक्तियों के मध्य में हो। यह हमें अन्य व्यक्तियों के सामने हमारी श्रेष्ठता प्रकट करने के लिये तथा उनको प्रभावित करने के लिये प्रेरित करती है।

(९) **आत्महीनता की प्रवृत्ति** (Instinct of Self-abasement)—यह प्रवृत्ति आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। अतः यह उस समय प्रकट होती है जब हम अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के मध्य में होते हैं। यह हमें झुक जाने तथा नम्र होने के लिये प्रेरित करती है।

(१०) **काम-प्रवृत्ति** (Sex Instinct)—संकुचित दृष्टिकोण से यह प्रवृत्ति विषम-लिंग में व्यक्त होती हैं। किन्तु फ्रायड ने इस प्रवृत्ति की व्याख्या विस्तारपूर्वक की है और इसको प्रायः जीवन की मुख्य क्रियाओं का आधार माना है। इसकी व्याख्या हम उचित स्थान पर करेंगे।

(११) **संग्रह करने की प्रवृत्ति** (Instinct of Acquisition)—यह मूल-प्रवृत्ति हमे वाँछनीय वस्तुओं के संग्रह करने के लिये प्रेरित करती है। इसके द्वारा हम प्रायः भोजन अथवा घर की सजावट की सामग्री एकत्रित करते हैं। यदि यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाय तो संग्रह की गई वस्तुओं की ईर्ष्यापूर्वक रक्षा की जाती है। ऐसा व्यक्ति न केवल कृपण अपितु ईर्ष्यालु भी बन जाता है।

(१२) **रचना की प्रवृत्ति** (Constructive Instinct)—यह प्रवृत्ति हमें घर तथा ऐसी वस्तुओं की रचना के लिये प्रेरित करती है, जिनकी सामग्री हमें उपलब्ध हो। पक्षी नीड़ बनाते हैं; मधुमक्खिकाएँ मधुकोष निर्माण करती हैं; बच्चे ईंटों के घर बनाते हैं और गूँधे हुए आटे से कई प्रकार के खिलौने बनाते हैं। ये सब क्रियाएँ रचना-प्रवृत्ति के आधार पर की जाती हैं।

(१३) **विनय की प्रवृत्ति** (Instinct of Appeal)—यह प्रवृत्ति हमें पराजय में प्रार्थना करने के लिये प्रेरित करती है। जब छोटे बच्चे अपने विरोधी को परा-

जित करने में असमर्थ हो जाते हैं तो वे माता-पिता के पास सहायता के लिये विनय करने को उपस्थित होते हैं अथवा विनयपूर्वक व्यवहार करते हैं।

(१४) हँसने की प्रवृत्ति (Instinct of Laughter)—जब हम किसी विचित्र वस्तु को ऐसी अवस्था में देखते हैं कि हमें उस वस्तु के प्रति न तो क्रोध आता है और न पूर्ण सहानुभूति होती है तो हम हास्य का अनुभव करते हैं। हास्य प्रायः किसी व्यक्ति की मूर्खता अथवा अज्ञान से अपमानित होने से उत्पन्न होता है। हँसने की प्रवृत्ति विशेषतया मानवी प्रवृत्ति है। उपरोक्त तेरह मूल प्रवृत्तियां सब पशुओं में भी होती हैं, किन्तु हँसने की प्रवृत्ति केवल मनुष्य में ही होती है। अतः मूल प्रवृत्तियों के दृष्टिकोण से मनुष्य को 'हँसने वाला पशु' कहा जा सकता है।

मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तन—यदि मूल प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील न होतीं, यदि शिशु की इन शक्तियों को विशेष मार्ग पर चलाया न जा सकता, तो इनका शिक्षा मनोविज्ञान में कोई महत्व न होता। किन्तु सौभाग्यवश विशेष परिस्थितियों द्वारा मूल प्रवृत्तियां परिवर्तित होती रहती हैं। मूल प्रवृत्तियां ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से विशेष उपाधियों द्वारा प्रभावित होकर परिवर्तन हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप जब एक शिकारी जंगल में आकर बन्दूक चलाता है, तो उसके शब्द को सुनकर सब पक्षी उड़ जाते हैं। जब भविष्य में वही शिकारी पुनः उसी जंगल में जाय तो उसको देखते ही वे पक्षी उड़ जायँगे। उड़ने की मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया, जो पहले बन्दूक के शब्द से प्रेरित हुई थी, वह अब केवल उस शिकारी के दर्शन मात्र से ही प्रेरित हो जायगी। इसी प्रकार क्रियात्मक दृष्टिकोण से भी मूल प्रवृत्ति का परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणस्वरूप छोटा-सा शिशु, जब किसी से क्रुद्ध होता है, वह क्रोध दिलाने वाले व्यक्ति को काटने को दौड़ता है। किन्तु जब वही शिशु बड़ा हो जाता है, तो वह शिष्टाचार का पालन करता है और क्रोध में किसी को काटने को नहीं दौड़ता। दूसरे शब्दों में उसकी लड़ने की प्रवृत्ति क्रियात्मक दृष्टिकोण से परिवर्तित होजाती है। हमारी भोजन ढूँढने की मूल प्रवृत्ति तो युगों से वही चली आती है, जो कि हमारे पूर्वजों में थी; किन्तु हमारी पकाने की विधियाँ तथा हमारे खाने के तरीके बिलकुल परिवर्तित हो चुके हैं। मनुष्य में अन्य पशुओं की भाँति सब मूल प्रवृत्तियाँ उपस्थित हैं। किन्तु वह उन प्रवृत्तियों को अन्य पशुओं की भाँति तृप्त नहीं करता। वह अपने विचार के द्वारा अपनी मूल प्रवृत्तियों को परोक्षरूप में तृप्त करता है। अतः उसकी मूल प्रवृत्तियां इतनी सुलझी हुई हैं कि उन सब के होते हुए भी वह मूल प्रवृत्तियों से रहित प्रतीत होता है। मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों को दमन (Suppression) विलयन (Inhibition) मार्गान्तरीकरण (Re-direction) तथा शोध (Sublimation) के द्वारा परिवर्तित कर सकता है। मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन की ये चारों रीतियां काम में लाई जा सकती हैं।

अतः इन की विस्तारपूर्वक व्याख्या करना आवश्यक है।

दमन—दमन का अर्थ किसी मूल प्रवृत्ति को हिंसात्मक विधि से दबा देना है। दूसरे शब्दों में, जब शिशु की कोई मूल प्रवृत्ति उसे डरा-धमकाकर दबा दी जाती है, तो उसका दमन हो जाता है। माता-पिता तथा अध्यापक प्रायः उद्दण्ड बालकों के प्रति दमन का व्यवहार करते हैं। किन्तु वास्तव में दमन के द्वारा शिशु की मूल प्रवृत्तियों को सर्वदा के लिये दबाया नहीं जा सकता। जब कभी शिशु की किसी मूल प्रवृत्ति का दमन किया जाता है तो प्रत्यक्ष रूप में वह अवश्य अदृश्य हो जाती है; किन्तु वास्तव में वह शिशु के मानसिक जीवन में, परोक्ष रूप में उसके अचेतन व्यक्तित्व में एक गुप्त शत्रु की भाँति सदा के लिये छिपी रहती है और समय आने पर उसके चेतन व्यक्तित्व पर प्रहार करती है। जिस प्रकार पहाड़ी नदी के बहते हुए पानी को बाँध अथवा दीवार के द्वारा रोक देने से और उस बहाव का चारों ओर रास्ता बन्द कर देने से एक-न-एक दिन ऐसी बाढ़ आती है कि वह बाँध टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। ठीक उसी भाँति दमन की गई मूल-प्रवृत्तियां शिशु के मानसिक जीवन में एक दिन सब बन्धनों को तोड़ देती हैं और उसके व्यक्तित्व में उथल पुथल उत्पन्न कर देती हैं। अतः जहाँ तक हो सके शिशुओं की मूल प्रवृत्तियों का दमन नहीं करना चाहिये। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि विशेष परिस्थितियों में भी दमन का प्रयोग न किया जाय। यदि कोई बड़ा बालक बार-बार समझाने पर भी कुसंगति तथा बुरी आदतों को नहीं छोड़ता, तो उसको भय अथवा दण्ड के द्वारा ठीक मार्ग पर लाना कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है। किन्तु छोटे शिशुओं के विषय में माता-पिता तथा अध्यापक को दमन का प्रयोग नहीं करना चाहिये। हमारी माताएँ प्रायः शिशुओं को 'हौआ' इत्यादि कहकर भयभीत करती हैं। ऐसा करने से शिशु के व्यक्तित्व के विकास को बहुत हानि पहुँचती है।

विलयन—विलयन का मनोवैज्ञानिक अर्थ किसी मूल प्रवृत्ति को पनपने के अवसर से ही वंचित रखना है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ मूल प्रवृत्तियों का शोषण करना अथवा सुखा देना है। जब किसी बालक को कुसंगति में पड़ने के भय से किसी भी बालक से मिलने नहीं दिया जाता और उसे सर्वदा अकेला रखकर उसकी समुदाय में रहने की प्रवृत्ति का शोषण किया जाता है, तो यह विलयन का प्रयोग माना जायगा। जो व्यक्ति हठ योग के द्वारा अपनी सब इच्छाओं को दबा देते हैं और ऐसा करने के लिये संसार को त्याग देते हैं, वे प्रायः विलयन का प्रयोग करते हैं। किन्तु छोटे शिशुओं के प्रति, जहाँ तक हो सके, विलयन का प्रयोग नहीं करना चाहिये। विशेषकर काम प्रवृत्ति के विलयन के लिये अधिकतर माता-पिता शिशु की इस मूल प्रवृत्ति को पनपने का अवसर नहीं देते। किन्तु ऐसा व्यवहार सर्वथा अनुचित है। जब शिशु किशोरावस्था को प्राप्त करता है, तो वह अज्ञान के कारण दुर्व्यसनों में पड़ सकता है। उस समय माता-पिता के द्वारा

विलयन का प्रयोग भी असफल हो जाता है।

मार्गान्तरीकरण— मार्गान्तरीकरण का अर्थ मूल प्रवृत्ति के मार्ग को विशेष दिशा की ओर कर देना है। इस रीति के द्वारा न तो मूल प्रवृत्ति का दमन किया जाता है और न ही उसे पनपने से रोका जाता है। इसमें केवल मूल प्रवृत्ति के लक्ष्य को बदल दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी बालक में लड़ने की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में हो, तो उसको सेना में भर्ती कराकर युद्ध-क्षेत्र में अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये लड़ने का अवसर दिया जा सकता है। अतः लड़ने की प्रवृत्ति के मार्गान्तरीकरण के द्वारा शिशु को एक अच्छा योद्धा बनाया जा सकता है। जिस प्रकार किसी नदी के पानी को समुद्र की ओर जाने देने की अपेक्षा नहरों के द्वारा खेतों की ओर बहाकर बंजर देश को भी हरा-भरा किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार शिशु की मूल प्रवृत्तियों के मार्गान्तरीकरण के द्वारा उसके व्यक्तित्व को उन्नत किया जा सकता है।

शोध—शोध का अर्थ मूल प्रवृत्ति को किसी उच्च लक्ष्य की ओर लगाकर व्यक्तित्व का उत्थान करना है। जिस प्रकार पानी का वाष्पीकरण करके उसकी वाष्प की शक्ति को मशीनों, इंजनों तथा जहाजों को चलाकर प्रकृति पर विजय प्राप्त की जा सकती है, उसी भाँति मूल प्रवृत्तियों के शोध से शिशु में एक अद्वितीय शक्ति उत्पन्न करके उसके व्यक्तित्व को ऊँचे शिखर पर पहुँचाया जा सकता है। जिस बालक में लड़ने की मूल प्रवृत्ति अधिक मात्रा में हो, तो उसकी रुचि गणित-शास्त्र में लगाकर उसकी इस प्रवृत्ति का शोध किया जा सकता है और उसको गणित की समस्याओं से लड़ने का अवसर देकर उसे गणित-शास्त्र का एक विख्यात विद्वान् बनाया जा सकता है। शिशुओं की मूल प्रवृत्तियों के अनेक साधन हैं। मिट्टी के खिलौने तथा लोहे के यंत्र बनाने के खेलों के द्वारा उनकी रचना की मूल प्रवृत्ति का शोध किया जा सकता है। इसी प्रकार संगीत, चित्रकला, नाटक इत्यादि शिशु की काम प्रवृत्ति के शोध के लिये उपयोगी हैं।

शिशु को मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तन उपरोक्त उपायों के द्वारा किया जाना बहुत आवश्यक है। शिक्षक को चाहिये कि वह प्रारम्भ से ही शिशुओं की मूल प्रवृत्तियों का समुचित परिवर्तन करे ताकि आगे चलकर वे बुरे व्यसनों तथा कुसंगति में पड़कर विपरीत पथ पर न चल सकें। शैशवावस्था में ही शिशु के उज्वल भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। उसको सच्चरित्र बनाने के लिये इसी काल में प्रयत्न किये जा सकते हैं। मूल प्रवृत्तियाँ शिशु की समस्त शक्तियों का केन्द्र हैं। यदि इन शक्तियों को शुरू से ही सुमार्ग पर लगा दिया जाय, तो शिशु बड़ा होकर एक अद्वितीय व्यक्ति बन सकता है। किन्तु उसकी मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तन करते समय शिक्षक को चाहिये कि वह कम-से-कम दबाव डाले। जहाँ तक हो सके, शिशु की स्वच्छन्दता तथा उसकी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालनी चाहिये। अतः जहाँ पर शोध से काम लिया जा सकता है, वहाँ

मार्गान्तरीकरण को छोड़ देना चाहिये और जहाँ मार्गान्तरीकरण उपयुक्त हो, वहाँ विलयन तथा दमन का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

शिक्षा सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियाँ—मूल प्रवृत्तियाँ बालक के विकास का मुख्य साधन हैं। यदि इन प्रवृत्तियों को सुचारु रूप से परिवर्तित किया जाय तो बालक शिक्षा के क्षेत्र में विशेष उन्नति कर सकता है। चौदह मूल प्रवृत्तियों में से निम्नलिखित सात प्रवृत्तियों का शिक्षालयों में सदुपयोग किया जा सकता है।

१. उत्सुकता
२. लड़ना
३. संग्रह
४. रचना
५. आत्मप्रकाशन
६. विनीत भाव
७. काम वृत्ति

उत्सुकता—यह मूल प्रवृत्ति शिक्षा के दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठ तथा आवश्यक है। इसी प्रवृत्ति के आधार पर शिशु में जिज्ञासु बनने की चेष्टा होती है। आदिकाल से शिशु के मन में प्रत्येक नई वस्तु तथा घटना को जानने की उत्सुकता उत्पन्न होती है। वह अनायास नई वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है, तथा उनके प्रति पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इसी उत्सुकता के कारण शिशु को नये-नये खिलौने रुचिकर लगते हैं। उसकी उत्सुकता की भूख को अवश्य शान्त करना चाहिये। जब बालक उत्सुकता के कारण माता-पिता तथा शिक्षक से प्रश्न करे तो उसे डाँट-डपट देने की अपेक्षा सन्तोषजनक उत्तर देना केवल अच्छा ही नहीं, बल्कि समाज के लिये भी अधिक अच्छा है। यदि ऐसा न किया जाय तो बालक की उत्सुकता के दमन के कारण उसके मानसिक विकास को ठेस पहुँचती है। शिक्षक बालक की इस मूल प्रवृत्ति का पढ़ाते समय लाभ उठा सकता है। अपने विषय को रोचक बनाने के लिये उसे बालक की उत्सुकता को प्रेरित करना चाहिये। ऐसा करने के लिये छात्रों को नवीन वस्तुओं से परिचित कराना चाहिये। किन्तु ध्यान रहे कि विषय इतना नूतन नहीं होना चाहिये कि छात्रों के पूर्व ज्ञान से बिलकुल सम्बन्ध न रखता हो। अर्थात् विषय ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे छात्र बिलकुल अनभिज्ञ हो। किन्तु हर हालत में बालक की उत्सुकता को जाग्रत रखना तथा उसे जिज्ञासु बनाना शिक्षक का मुख्य कर्तव्य है।

लड़ना—प्राणि-मात्र में लड़ने की प्रवृत्ति आदिकाल से उपस्थित रहती है। वास्तव में जीवन संघर्षमय है। अतः प्राणियों को जीवन-रक्षा के लिये परिस्थितियों से लड़ना पड़ता है। ऐसी अवस्था में उनकी लड़ने की मूल प्रवृत्ति स्वयं ही सन्तुष्ट होती रहती है। किन्तु जिस समय एक शिशु की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोका जाता है, अथवा उसके खेलने में बाधा डाली जाती है, तो वह इस प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है। इस मूल प्रवृत्ति की अधिकता होने के कारण शिशु झगड़ालू तथा क्रोधी स्वभाव का बन सकता है; किन्तु इसी प्रवृत्ति का

मार्गान्तरीकरण द्वारा सदुपयोग भी किया जा सकता है। यदि आरम्भ से बालक की लड़ने की मूल प्रवृत्ति का दमन किया जाय अथवा विलयन के द्वारा उसका शोषण किया जाय, तो वह आगे चलकर भीरु तथा कायर हो जाता है। अतः शिक्षक को चाहिये कि वह बालक को अत्याचारी के विरुद्ध लड़ने के लिये उत्साहित करे और उसको जीवन-संग्राम में विजयी बनाने के लिये तथा कष्टों का सामना करने के लिये साहसी बनने की शिक्षा दे। यदि शिशु की लड़ने की मूल प्रवृत्ति का दमन कर दिया जाय, तो हम देशभक्त, वीर और सैनिक कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? इसके अतिरिक्त लड़ने की मूल प्रवृत्ति को गणित-शास्त्र में रुचि दिलाने से उसका शोध किया जा सकता है।

संग्रह—शैशवावस्था में अनेक वस्तुओं का संग्रह करने की भावना उपस्थित होती है। इसी भावना के कारण एक शिशु अपने खिलौने दूसरे शिशु को देना नहीं चाहता यही भावना बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में रहती है। संभवतया इस भावना के दुरुपयोग से बालक स्वार्थी तथा कंजूस हो सकता है। अतः शिशु की संग्रह की मूल प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये उसकी रुचि उपयोगी वस्तुओं के एकत्रित करने में उत्पन्न करना आवश्यक है। विद्यालयों के बालकों को कभी-कभी उद्यान में ले जाकर सुन्दर तथा भिन्न प्रकार के पुष्पों को एकत्रित करने का प्रोत्साहन दिया जाना लाभदायक है। जिस बालक में संग्रह-प्रवृत्ति की अधिक मात्रा हो, उसे कक्षा का मानीटर बनाकर कक्षा की उपयोगी वस्तुओं का प्रबन्धक बनाना उचित है।

रचना—रचना की मूल प्रवृत्ति पशु-पक्षियों से लेकर मनुष्य तक में उपस्थित है। पक्षी नीड़ बनाकर एवं मधुमक्खियाँ अपने निवास-गृह बनाकर रचना की प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। शिशु अनेक वस्तुओं से अथवा खिलौनों से खेलते समय उनकी तोड़-फोड़ करता है तथा उनको नये क्रम में रखता है। वह मिट्टी से तथा ईंटों से घर बनाता है एवं आटे से कई प्रकार के पशु-पक्षियों की प्रतिमा बनाता है। ये सब क्रीड़ाएँ उसकी रचना-प्रवृत्ति की देन हैं। यदि आरम्भ से ही शिशु की इस प्रवृत्ति का दमन किया जाय, तो वह आगे चलकर रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता। इसलिये अध्यापक को चाहिये कि वह शिशु की रचना-शक्ति को उपयोगी कार्य में लगाये। यही कारण है कि मौन्टीसरी तथा किन्डरगार्टन शिक्षा-पद्धति में बालकों को मिट्टी के माडल बनाने की शिक्षा दी जाती है। ऐसी शिक्षा देने से प्रथम तो बालकों की रचना-प्रवृत्ति सन्तुष्ट हो जाती है और दूसरे ये भविष्य में इंजीनियरिंग, टैक्नॉलोजी इत्यादि व्यवसाय में सफल हो सकते हैं।

आत्मप्रकाशन—आत्मप्रकाशन हमारी प्रत्येक ऐसी क्रिया में दृष्टिगोचर होता है, जो हम किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति के प्रबन्ध करने के प्रति करते हैं। जब हम किसी वस्तु अथवा परिस्थिति के प्रबन्धकर्ता बनते हैं, यह मूल प्रवृत्ति हमारे आत्मगौरव तथा

आदेश के रूप में प्रकट होती है। हमारी परिस्थिति पर प्रवीणता तथा प्रभुत्व प्राप्त करने की इच्छा आत्मप्रकाशन का एक स्वरूप है। इसका दूसरा स्वरूप हमारी किसी भी अन्य व्यक्ति के आदेश में तथा उसके प्रभुत्व में अथवा उस से पराजित होकर रहने से घृणा करना है। शिशु में इसके दोनों स्वरूप उपस्थित होते हैं। छोटा-सा शिशु भी आदेश देता है और प्रभुत्व दिखलाता है। जब उसका आदेश नहीं माना जाता, तो वह रोने लगता है, हाथ-पैर पटकता है। शिशु की आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति का दमन करने से उनमें धृष्टता उत्पन्न होने की संभावना है, क्योंकि माता-पिता के आदेश को न मानना आत्म प्रकाशन का दूसरा स्वरूप है। अतः अध्यापक को चाहिये कि वह प्रत्येक बालक को आत्मप्रकाशन का उचित अवसर दे। छात्रों का गृह-कार्य निरीक्षण करते समय अंक इत्यादि देने अथवा प्रथम, द्वितीय इत्यादि स्थान देने अथवा उनके कार्य की प्रशंसा करने से उनकी इस प्रवृत्ति को तृप्त किया जा सकता है। यदि कोई बालक पढ़ाई में प्रशंसनीय स्थान प्राप्त न कर सकता हो, तो उसे खेलों में तथा पाठ्यक्रम से अतिरिक्त भाषण प्रतियोगिता, वाद-विवाद, नाटक इत्यादि के क्षेत्र में आत्मप्रकाशन का अवसर देना उचित है। किन्तु याद रहे कि शिशु की यह मूल प्रवृत्ति आत्मगौरव तक ही सीमित रहनी चाहिये। यदि आत्मप्रकाशन को अधिक प्रोत्साहन दिया जाय तो संभव है कि शिशु आगे चलकर अभिमानी बन जाय। अतः शिक्षक के लिये शिशु की इस मूल प्रवृत्ति के प्रोत्साहन तथा परिवर्तन के प्रति सावधान रहना चाहिये। विद्यालयों में छात्रों को पारितोषिक देना आत्मप्रकाशन की तृप्ति के लिये आवश्यक है। कभी-कभी बालकों में पारितोषिक के कारण वैमनस्य भी हो सकता है, किन्तु शिक्षक पारितोषिक को छात्रों के लिये परस्पर स्पर्द्धा का साधन बना सकता है। आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति के कारण बालक के मन में यह इच्छा होती है कि सब लोग उसके प्रशंसनीय कार्य को देखें और उसकी योग्यता से प्रभावित हों और ऐसा करने के लिये वह बहुत सा कार्य केवल दिखावट के लिये ही करता है; किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि का विकास होता है उसकी इस मूल प्रवृत्ति में परिवर्तन होता जाता है और प्रौढ़ावस्था में संकुचित दृष्टिकोण को छोड़कर समाज-सेवा में भी आत्मप्रकाशन की तृप्ति करता है।

विनीत भाव—आत्मप्रकाशन के साथ-साथ मनुष्य में उसके प्रतिकूल विनीत भाव की प्रवृत्ति भी जन्म से उपस्थित होती है। विनीत भाव के कारण मनुष्य अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के सामने अपने आप को तुच्छ समझता है। यदि शिशु की इस मूल प्रवृत्ति को आवश्यकता से अधिक पनपने दिया जाय तो वह प्रौढ़ावस्था में भीरु, निरुत्साही तथा दूसरों पर अवलम्बित रहने वाला बन जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः बालकों में स्वावलम्बन तथा स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत रखनी चाहिये, ताकि उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न हो। इसके साथ-साथ अध्यापकों के

लिये बालकों के विनीत भाव का सदुपयोग करना आवश्यक है। श्रेणी में अनुशासन को स्थापित करने के लिये तथा बालकों को प्रभावित करने के लिये उनके विनीत भाव को जाग्रत करना अनिवार्य है। किन्तु ऐसा करने के लिये अध्यापक का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिये; उसकी आवाज़ गहरी होनी चाहिये तथा उसका भाषण रुचिकर और आकर्षक होना चाहिये।

काम-प्रवृत्ति—मनुष्य मात्र में अन्य प्राणियों की अपेक्षा कामवृत्ति परोक्षरूप में उपस्थित है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह उसकी मुख्य मूल प्रवृत्ति है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास, उसका आचार व्यवहार, अधिकतर उसकी काम वृति तथा काम-प्रवृत्ति सम्बन्धी क्रियाओं पर निर्भर है। समय था कि काम-प्रवृत्ति को केवल किशोरावस्था तथा प्रौढ़ावस्था तक व्यापक समझा जाता था; किन्तु आज उसकी परिभाषा इतनी विस्तृत है कि शिशु के माता का दूध पीने की क्रिया से लेकर प्रौढ़ पुरुष के रचनात्मक कार्य, कविता, कला इत्यादि उसमें समा जाते हैं। इस विषय में आस्ट्रिया के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर फ्रायड ने क्रान्तिकारी कार्य किया है। उसने बहुत से खोज तथा अनुभव के पश्चात् निश्चय किया है कि मनुष्य मात्र की कामवृत्ति चार अवस्थाओं में प्रकट होती है। शैशवावस्था में कामवृत्ति शिशु के आत्म-प्रेम तक सीमित रहती है, वह आदि में अपने अंगों से तथा अपने शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं से प्रेम करता है। अंग्रेजी में इस अवस्था को नारसीजम (Noracism) कहते हैं। बाल्यकाल में काम-वृत्ति माता-पिता के प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। इस अवस्था में पुत्र का प्रेम माता से पिता की अपेक्षा अधिक होता है। इसी प्रकार कन्या का प्रेम पिता के प्रति होता है। किशोरावस्था में बालक का प्रेम अपने लिंग (Sex) के ही बालकों से होता है तथा कन्या का प्रेम कन्याओं से होता है। फ्रायड ने बाल्यकाल के प्रेम को ओडिपस काम्पलैक्स (Odipus Complex) कहा है तथा किशोरावस्था के प्रेम को होमोसैक्सुऐलिटी (Homosexuality) अर्थात् समलैङ्गिक प्रेम बताया है। प्रौढ़ावस्था में अथवा किशो-रावस्था के अन्तिम काल में कामवृत्ति अपने परिपक्व रूप में उपस्थित होती है। इस काल में पुरुष का प्रेम स्त्री के प्रति तथा स्त्री का पुरुष के प्रति होता है। इस अवस्था को विषम-लैङ्गिक अवस्था कहा है। इसको अंग्रेजी में (Heterosexuality) कहते हैं। अतः फ्रायड तथा मनोविश्लेषण के वैज्ञानिकों के अनुसार शैशवावस्था तथा बाल्यकाल में काम-वृत्ति की बाह्य क्रिया के अभाव से इस मूल प्रवृत्ति के अभाव का अनुमान लगाना भूल है। यही कारण है कि शैशवावस्था में भी शिशुओं की कामवृत्ति का अनायास दमन होता रहता है और उनके व्यक्तित्व के विकास को आघात पहुँचता है। माता-पिता प्रायः बालकों के काम-प्रवृत्ति सम्बन्धी प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देते। शिशु जिस समय नव शिशुओं के जन्म के बारे में कुछ जानने की चेष्टा करता है, तो माता-पिता उसकी इस उत्सुकता को

तृप्त करने के बजाय टालमटोल कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी इच्छाओं का दमन हो जाता है, जो आगे चलकर कई मानसिक विचारों का कारण बन जाता है। अतः मनोविश्लेषण के विद्वानों का मत है कि बालकों को नव शिशुओं के जन्म के बारे में झूठ नहीं बतलाना चाहिये, बल्कि उसकी वास्तविकता की धार्मिक दृष्टिकोण से व्याख्या करनी चाहिये। किशोरावस्था में जब कि बालक काम-प्रवृत्ति सम्बन्धी शारीरिक परिवर्तन का भी अनुभव करता है, शिक्षकों तथा माता-पिता को चाहिये कि उसकी लिंग सम्बन्धी उत्सुकता का दमन न करें बल्कि उसे स्त्री और पुरुष के परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध को ईश्वरीय देन समझते हुए उसका उद्देश्य बतलायें। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि बालकों को विषय, विलास सम्बन्धी साहित्य पढ़ने का अवसर दिया जाय। ऐसा करने से उनके चरित्रहीन होने की सम्भावना हो सकती है। जहाँ तक हो सके काम प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण तथा शोध काम में लाना चाहिये। अतः विद्यालयों में मनोरंजन के साधन होने चाहियें और उनको अधिक समय तक रुचिकर काम में लगाये रखना चाहिये। खेल-कूद, नाटक, भाषण-प्रतियोगिता, संगीत, चित्रकला, इत्यादि के द्वारा काम-प्रवृत्ति का सदुपयोग किया जा सकता है।

अभ्यास

१. मूल प्रवृत्तियों का शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या स्थान है और उनका जानना शिक्षक के लिये क्यों आवश्यक है?

२. मूल प्रवृत्ति किसे कहते हैं? श्री मैकडूगल ने मूल प्रवृत्ति की कौनसी परिभाषा दी है?

३. मनुष्य में कितनी मुख्य मूल प्रवृत्तियां होती हैं? उसकी मूल प्रवृत्तियों की अन्य पशुओं की मूल प्रवृत्तियों से तुलना करो।

४. मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि बालक की मूल प्रवृत्तियों का दमन क्यों अवांछनीय है?

५. मूल प्रवृत्तियों के मार्गान्तरीकरण तथा शोध के लिये विद्यालयों में क्या उपाय किये जाने चाहियें?

६. शिक्षा के दृष्टिकोण से कौन-कौनसी मूल प्रवृत्तियाँ महत्व रखती हैं? ऐसी सब मूल प्रवृत्तियों की व्याख्या करो।

सातवाँ अध्याय

क्रिया (Action)

क्रिया का स्वरूप

मनोविज्ञान में 'क्रिया' शब्द बहुत व्यापक है। विशाल दृष्टिकोण से हमारी प्रत्येक मनोवृत्ति क्रिया है। न केवल इतना, अपितु हमारे शरीर में रुधिर संचार, श्वास की गति, पाचन इत्यादि की क्रियाएँ, जो कि हमारे जीवन का आधार हैं, सब क्रिया के क्षेत्र में आती हैं। इसी प्रकार हमारी आँखों का झपकना, छींक आना, खाँसना, शिशु का रोना इत्यादि सब क्रियाएँ हैं। संक्षेप में हमारा जीवन, जन्म से लेकर मृत्यु तक, क्रियाओं का एक सिलसिला है। जब तक जीवन है, तब तक क्रिया है। मनुष्य केवल मृत्यु को प्राप्त करके ही क्रियाहीन हो सकता है। आदि काल से प्रकृति स्वयं ही शिशु को जीवित रखने के लिये श्वास गति, रुधिर संचार, आमाशय आदि की क्रियाओं को जारी रखती है। इन क्रियाओं में निर्विकल्पक माँसपेशियों (Involuntary muscles) की गति के द्वारा ही काम चलता है। अतः इन क्रियाओं को स्वतन्त्र क्रियाएँ कहा जा सकता है। वास्तव में ऐसी क्रियाएँ शरीर सम्बन्धी (Physiological) प्रक्रिया का भाग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हमारी क्रियाओं के दो भेद हैं :

(१) निर्विकल्पक (Non-voluntary).

(२) सविकल्पक (Voluntary).

निर्विकल्पक क्रिया के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं :—

(१) स्वच्छन्द क्रिया (Spontaneous actions).

(२) सहज क्रिया (Reflex actions).

(३) तत्काल प्रेरित क्रिया (Ideomotor actions).

(४) मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रिया (Instinctive actions).

सविकल्पक क्रिया परिपक्व क्रिया है, जो हमारे पूर्ववर्ती अनुभव, विवेक तथा विचार पर निर्भर रहती है। ऐसी क्रिया बहुत विचार करने के पश्चात् दृढ़ संकल्प के द्वारा होती है। शिशु में इस प्रकार की सविकल्पक अथवा ऐच्छिक क्रिया तक पहुँचने के लिये शिशु को अन्य प्राणियों की तरह अनैच्छिक अथवा निर्विकल्पक क्रियाओं के स्तर से गुजरना पड़ता है। अतः शिक्षक के लिये यह जानना आवश्यक है कि शिशु किस प्रकार क्रिया को ग्रहण करने में क्रमशः उन्नति करता है। इसलिए हम उपरोक्त क्रियाओं की थोड़ी-सी व्याख्या करेंगे।

स्वच्छन्द क्रिया—स्वच्छन्द क्रियाएँ, हमारे शरीर की संचित शक्ति का प्रकटीकरण होती हैं। जब शिशु बहुत छोटा होता है तो वह स्वयं ही अपने हाथ पाँव फैलाता है। नींद से जागने पर, बिना आँखों को खोले ही नेत्र घुमाता है। ये सब क्रियाएं किसी क्रम में तो नहीं होतीं किन्तु ये किसी बाहरी दबाव के कारण नहीं होतीं। ऐसी क्रियाओं को हम ऐच्छिक भी नहीं कह सकते, क्योंकि इनमें शिशु का कोई ध्येय नहीं होता। केवल इतना ही नहीं, कुछ मनोवैज्ञानिक तो इन क्रियाओं को चेतन तक भी नहीं मानते। चाहे कुछ भी हो, शिशु स्वयं ही इन क्रियाओं का प्रदर्शन करता है और ये स्वच्छन्द क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ प्राकृतिक और स्वाभाविक हैं और शिशु के शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है। शिशु की हाथ-पाँव हिलाने की स्वच्छन्द क्रियाएँ, उसका एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम हैं, जो उसकी माँसपेशियों की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं।

सहज क्रिया—प्रकृति न केवल स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द क्रियाओं के द्वारा शिशु के जीवन की रक्षा करती है, अपितु जब कभी कोई बाहरी विषय सहसा शरीर के सम्पर्क में आता है तो प्रकृति सहज क्रिया के द्वारा तुरत ही जीवन की रक्षा के लिए प्रतिक्रिया कराती है। जब कोई उत्तेजक गन्ध, हमारी नाक में चली जाती है तो तुरन्त छींकें आरम्भ हो जाती हैं और जब तक कि उस गन्ध वाला पदार्थ शरीर से निकल न जाय, तब तक छींकों की सहज क्रिया बन्द नहीं होती। इसी प्रकार, जब धूल हमारी आँखों में गिरती है तो उनका झपकना आरम्भ हो जाता है। शिशु का रोना, हिचकी लेना इत्यादि सब सहज क्रियाएँ हैं। सहज क्रिया में तुरन्त ही बाहरी विषय (Stimulus) के सम्पर्क से प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। किन्तु हर अवस्था में सहज क्रिया बाहरी विषय तथा तथा उत्तेजना पर निर्भर है। बिना उत्तेजना के सहज क्रिया नहीं होती।

सहज क्रिया के रूप—सहज क्रियाओं के दो रूप होते हैं (१) शारीरिक सहज क्रियाएँ (Physiological Reflexes) तथा ऐन्द्रिय-ज्ञानात्मक सहज क्रियाएँ (Sensation Reflexes)। शारीरिक सहज क्रियाओं में हमें क्रिया की चेतना मात्र नहीं होती। उदाहरणस्वरूप हमारी आँख की पुतली में जो छोटा-सा छिद्र होता है, वह तीव्र प्रकाश में संकुचित हो जाता है, ताकि आवश्यकता से अधिक प्रकाश आँख के भीतर न जा सके। जब प्रकाश थोड़ा अथवा धुँधला हो तो यह छिद्र स्वतः ही विस्तृत हो जाता है, ताकि अधिक-से-अधिक प्रकाश आँख में जा सके। इस छिद्र की सहज क्रिया को शारीरिक सहज क्रिया कहते हैं। ऐसी सहज क्रिया में हमें क्रिया का बिल्कुल बोध नहीं होता। इसके विरुद्ध ऐन्द्रिय ज्ञानात्मक सहज क्रिया में हम चेतन होते हैं। उदाहरणस्वरूप छींकना, खाँसना, आँखों का झपकना, मुँह में पानी आना इत्यादि ऐन्द्रिय-ज्ञानात्मक सहज क्रियाएँ हैं। सहज क्रियाओं में चेतना होती है; इतना

ही नहीं अपितु इनमें प्रेरणा (Impulse) भी होती है, किन्तु चेतना के द्वारा इनका प्रादुर्भाव नहीं होता। शारीरिक सहज क्रियाएँ बिलकुल अचेतन होती हैं और चेतना के नियंत्रण से बिलकुल बाहर होती हैं। किन्तु ऐन्द्रिय-ज्ञानात्मक सहज क्रियाएँ चेतन होती हैं और कई बार हम उनका नियंत्रण भी करते हैं। हम खाँसने को दृढ़ संकल्प द्वारा रोक सकते हैं। सहज क्रियाएँ, शिशु में धीरे-धीरे प्रवेश करती हैं। छींकना, हिचकी लेना, खाँसना तो आदि काल से ही उपस्थित होते हैं, किन्तु आँखों का झपकना, कुछ दिनों के पश्चात् प्रकट होता है। ये सब सहज क्रियाएँ, शिशु को स्वस्थ रखती हैं और उसके जीवन के लिये आवश्यक हैं। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है वह सहज क्रियाओं के स्तर से प्रवृत्तियों के स्तर में तथा मूल प्रवृत्तियों के स्तर से पूर्व कल्पित क्रियाओं के स्तर में प्रवेश करता है।

औपाधिक सहज क्रिया (Conditioned Reflex)—साधारण सहज क्रिया स्वाभाविक उत्तेजना अथवा स्वाभाविक विषय के द्वारा ही उत्पन्न होती है। उदाहरणस्वरूप, जब हम कोई खाने चीज खाते हैं तो हमारे मुँह में लार अथवा पानी आ जाता है। इस प्रकार लार का बहना तो स्वाभाविक सहज क्रिया है। किन्तु रूस के प्रसिद्ध शरीर-शास्त्र के विद्वान् श्री पैवलाव (Pavlov) ने यह प्रमाणित करके कि सहज क्रिया औपाधिक अथवा अस्वाभाविक भी हो सकती है, मनोविज्ञान के संसार में एक आन्दोलन-सा उत्पन्न कर दिया है। श्री पैवलाव ने यह खोज लगभग सन् १६०० में की, जब कि वह कुत्तों पर प्रयोग करके आमाशय और पाचन पर कुछ खोज का कार्य कर रहे थे। ऐसा करते समय कुत्ते के मुख में लार की ग्रन्थि (Salivary gland) से एक नाली के द्वारा लार के बहाव को बाहर लाया जाता था। श्री पैवलाव ने देखा कि लार न केवल उस समय तेजी से बहती थी जब कि भोजन वस्तुतः कुत्ते के मुँह में होता था, अपितु उस समय भी जब कि कुत्ता भोजन को अपने सामने देखता, अथवा जब वह उस थाली को देखता था, जिसमें कि उसे भोजन दिया जाता था। इतना ही नहीं बल्कि भोजन लाने वाले व्यक्ति को देखकर, अथवा उस व्यक्ति की आहट को सुनकर भी कुत्ते के मुँह में लार बहने लगती थी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अस्वाभाविक विषय, अथवा बनावटी उत्तेजना के द्वारा भी सहज क्रिया के संभव होने को श्री पैवलाव ने अनुभव किया। इससे यह भी प्रकट हुआ कि सहज क्रिया भी पूर्ववर्ती अनुभव पर निर्भर हो सकती है, तथा अनुभव के आधार पर परिवर्तित होती है। श्री पैवलाव ने इस प्रकार की परिवर्तित सहज क्रिया को औपाधिक सहज क्रिया का नाम दिया और बहुत से प्रयोगों के पश्चात् नई-नई औपाधिक सहज क्रियाओं की स्थापना की।

औपाधिक सहज क्रिया की स्थापना—एक घरेलू कुत्ते को भूखा रखा गया और उसको इस तरह से मेज पर बाँध कर रखा गया कि वह केवल एक-दो कदम चल सकता

था। जब वह कुत्ता शान्त हो जाता, तो एक मिनट के लिए घंटी बजाई जाती थी, जिसके तुरन्त बाद कुत्ते के मुँह में भोजन रख दिया जाता था और लार का बहाव आरम्भ हो जाता था। कुछ मिनटों के अवकाश के पश्चात् घण्टी बजनी आरम्भ हो जाती थी और पहले की तरह जब कुछ देर तक घण्टी बज चुकती, कुत्ते को भोजन दे दिया जाता था। इसी प्रकार अनेक बार अभ्यास कराने के पश्चात् यह देखा गया कि ज्यों ही घण्टी बजनी आरम्भ होती, कुत्ते के मुँह में लार का बहना आरम्भ हो जाता। इस प्रकार औपाधिक सहज क्रिया स्थापित की गई।

सहज क्रिया का महत्व—औपाधिक सहज क्रिया का ज्ञान शिक्षक के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार सहज क्रिया वातावरण के प्रभाव के कारण परिवर्तित तथा शिक्षित होती है, उसी प्रकार उसकी सारी क्रियाएँ एवं मूल प्रवृत्तियाँ भी वातावरण के सम्पर्क से परिवर्तित होती चली जाती हैं। यदि वातावरण पर नियन्त्रण किया जाय, तो शिशु को बहुत-सी अनावश्यक क्रियाओं तथा भय-जनक परिस्थितियों से निवृत्त किया जा सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि हमारी समस्त अर्जित क्रिया अथवा व्यवहार औपाधिक सहज क्रियाओं के आधार पर है। श्री मारगन ने कहा है "यदि एक व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा है अथवा क्रोध वाला है, तो उसका कारण केवल यही है कि उसने छोटी छोटी बातों पर क्रोध करना सीखा है। यदि एक व्यक्ति गणित से घृणा करता है तो वास्तव में उसे घृणा करना सिखलाया गया है। यदि वह झूठ बोलता है, तो उसने झूठ बोलना सीखा है। यदि वह प्रसन्न-चित्त है, तो उसका कारण भी यही है कि उसे प्रसन्न रहना सिखाया गया है। यदि वह परिश्रमी है, तो इससे प्रतीत होता है कि उसे परिश्रम करना सिखाया गया है।" किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि सीखने में संकल्प तथा विचार अथवा बुद्धि का कोई हाथ नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम बहुत सी क्रियाएँ यन्त्रवत् सीखते हैं, किन्तु हमारा व्यवहार उद्देश्यपूर्वक और सचेतन भी होता है। अतः शिक्षक को चाहिये कि वह औपाधिक सहज क्रिया की सीमा को ध्यान में रखे।

तत्काल प्रेरित क्रिया—तत्काल प्रेरित क्रिया वह क्रिया है, जो कि क्रिया का विचार आते ही की जाती है। ऐसी क्रिया में क्रिया का विचार तुरन्त ही क्रिया में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी क्रिया में इच्छा शक्ति का नियन्त्रण नहीं होता। अतः इसको ऐच्छिक क्रिया न कहकर अनैच्छिक अथवा केवलमात्र प्रेरित (Impulsive) क्रिया की संज्ञा दी जाती है। तत्काल प्रेरित क्रिया और ऐन्द्रिय ज्ञानात्मक सहज-क्रिया में अन्तर है; क्योंकि सहज क्रिया में ऐन्द्रिय-ज्ञान के तुरन्त ही पश्चात् क्रिया होती है, जब कि तत्काल प्रेरित क्रिया से पूर्व उस क्रिया का विचार उत्पन्न होता है। विलियम जेम्ज के कथनानुसार, ज्यों ही हम सोचते हैं, क्रिया हो जाती है। उदाहरणस्वरूप मित्र से बातचीत

करते समय मुझे फर्श पर पड़ी हुई सुई का ज्ञान होता है अथवा मेरे कोट पर पड़ी हुई धूलि का बोध होता है; उस समय मैं बातचीत में बिना बाधा डाले सुई उठा लेता हूँ अथवा धूलि को झाड़ लेता हूँ। इस क्रिया में मैं कोई निश्चय नहीं करता, किन्तु उस वस्तु का केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान मात्र, तथा उसके प्रति क्रिया का तीव्र विचार ही उसका कारण बनते है। इसी प्रकार जब हम बातचीत करते समय वार्तालाप में मग्न होते हुए भी कुछ सूखा मेवा, अथवा मूँगफली चबाते रहते हैं, तो हम तत्काल प्रेरित क्रिया का प्रदर्शन करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी क्रिया करते समय हमें इस क्रिया की ओर विशेष ध्यान नहीं देना पड़ता, किन्तु फिर भी अवधान के नियमों के अनुसार हम एक ही समय एक से अधिक वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं दे सकते। अतः जिस समय कोई बालक श्रेणी में अध्यापक के पढ़ाते समय, साथ ही कोई तत्काल प्रेरित क्रिया करता है, तो वह अध्यापक के शब्दों को ध्यानपूर्वक न सुनने के कारण ठीक-ठीक समझ नहीं पाता। इस लिये अध्यापकों को चाहिये कि वह बालकों को अनावश्यक तथा व्यर्थ तत्काल-प्रेरित क्रियाओं में व्यस्त न होने दें।

मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया—मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया, वह जन्म-जात क्रिया है, जो कि विशेष अवस्था में प्रत्येक प्राणी द्वारा आत्म-रक्षा के निमित्त विशेष संवेदना के साथ की जाती है। किन्तु ऐसी क्रिया में लक्ष्य का विचार स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख नहीं होता। जैसा हमने पहले एक अध्याय में बतलाया है कि मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया मनो-क्रिया के तीनों, भावात्मक, रागात्मक एवं विचारात्मक अंगों का प्रदर्शन करती है, किन्तु इसका भावात्मक अंग विशेष महत्व रखता है और इस भावात्मक अंग के परिवर्तन के साथ-साथ इस क्रिया के विचारात्मक तथा क्रियात्मक अंग में भी परिवर्तन होता रहता है। इस क्रिया का विशेष लक्षण, इसकी प्राणिमात्र में समानता तथा विस्तृत क्षेत्र है। मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया के कारण पक्षी अपना नीड़ बनाते हैं; मधु मक्षिकाएँ अपना गृह बनाती हैं; चूहे अपना बिल खोदते हैं इत्यादि। इसी प्रकार मुर्गी का बच्चा जन्मते ही दानों को चुगना आरम्भ कर देता है। शिशु जन्मते ही माँ का दूध पीना आरम्भ कर देता है। ये सब क्रियाएँ बिना पूर्ववर्ती अनुभव के की जाती हैं। ऐसी क्रियाओं के करने में प्राणियों को सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है। सहज क्रिया, तथा मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया दोनों जन्म-जात हैं, किन्तु सहज क्रिया में आनन्द और सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएँ अनुभव के द्वारा, विचारात्मक तथा क्रियात्मक दृष्टिकोण से परिवर्तित होती रहती हैं। उदाहरणस्वरूप जब एक शिकारी जंगल में जाकर बन्दूक चलाता है, तो पक्षी उस भयंकर शब्द को सुनकर उड़ जाते हैं। दूसरी बार जब भी वे शिकारी को जंगल में आता देखते हैं तो केवल उसके देखने से ही पक्षी उड़ जाते हैं। यह मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया का विचारात्मक दृष्टिकोण से परिवर्तन है। जब शिशु

छोटा होता है तो क्रोध आने पर काटने के लिये दौड़ता है। किन्तु जब कुछ बड़ा हो जाता है, तो मन-ही-मन क्रोध का अनुभव करके रह जाता है। यह इस क्रिया का क्रियात्मक दृष्टिकोण से परिवर्तन है। किन्तु शिशु की सहज क्रियाओं में इतना परिवर्तन नहीं होता। इनके अतिरिक्त सहज क्रियाएँ अचेतन होती हैं, जब कि मूल प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ स्वच्छन्द होते हुए भी चेतन होती हैं। मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तन तथा उनका शिक्षा मनोविज्ञान में महत्व पहले ही बताया जा चुका है।

प्रेरणा—उपर्युक्त सब क्रियाएँ अनैच्छिक अथवा निर्विकल्पक है, किन्तु इन क्रियाओं में रुधिर संचार, इत्यादि जैसी शरीर सम्बन्धी स्वतन्त्र क्रियाओं को छोड़कर, सब प्रेरित क्रियाएँ हैं। प्रेरणा, किसी भी प्रतिक्रिया की तत्परता का बोध कहा जा सकना है। वह एक ऐसी भावना है, जो हमें उस प्रतिक्रिया को करने के लिए उत्तेजित करती है, जिसके लिये हम तत्पर होते हैं। जब हम छींकते हैं, तो हम एक क्षण पहले उसके लिये प्रेरित होते हैं। जब हम भूखे होते हैं, तो हम भोजन ढूँढने के लिये प्रेरित होते हैं। इसी प्रकार जब हम तत्काल प्रेरित क्रिया करते हैं तो हमें वैसा करने की प्रेरणा होती है। प्रेरणा में हमें न केवल क्रिया का विचार आता है, अपितु कई बार हमें अपनी प्रतिक्रिया के परिणाम का विचार आता है। किन्तु जब हम बिना किसी संघर्ष के, प्रेरणा के द्वारा क्रिया करते हैं, तो वह क्रिया निर्विकल्पक ही होती है।

शिशु में प्रेरित क्रिया का आधिक्य—शिशु बहुत देर के पश्चात् पूर्वकल्पित क्रिया करने के योग्य होता है। आदि काल में उसकी सब क्रियाएँ प्रेरणा के स्तर पर रहती हैं। ज्योंही उसको प्रेरणा मिलती है, वह क्रिया कर डालता है। उसका कारण यह है कि शिशु का अनुभव संकुचित होता है। पूर्वकल्पित क्रिया के स्तर पर पहुँचने के पश्चात् भी, शिशु अधिकतर प्रेरित क्रियाओं का प्रयोग करता है। ज्यों ज्यों उसका अनुभव विस्तृत होता जाता है, मानसिक विकास में वृद्धि होती जाती है, वह तर्क का प्रयोग करता है और संकल्प तथा निश्चय करने लगता है। कई शिशु बड़े होकर भी प्रेरणा के स्तर पर रहते हैं और सब कार्य बिना विचारे ही करते हैं। शिक्षक को ऐसे बालकों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इन बालकों को तर्क का प्रयोग करना सिखलाना चाहिये। जब वे प्रेरणा से प्रभावित होने लगें तो उनको क्रिया के परिणाम पर विचार करने की शिक्षा देनी चाहिये। किसी कार्य को करने से पहले उसके गुण और दोषों पर विचार कर लेने से, मनुष्य प्रेरणा से प्रभावित होने से बच जाता है। प्रेरणा से शीघ्र प्रभावित होने वाले बालकों के मस्तिष्क में "पहले बात को तोलो, फिर मुँह से बोलो" (Look before you leap and think before you Speak) वाली कहावत का अर्थ अच्छी तरह ग्रहण करा देना चाहिये। जब शिक्षक बालक को किसी विशेष प्रेरणा से प्रभावित होने के कारण बुरी आदत में पड़ा हुआ देखे, तो उसे उस बुरी आदत के दोष बतला कर,

तथा उसके विपरीत उसने निवृत्ति के गुण बताकर शिशु को प्रेरणा से प्रभावित होने से बचा सकता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक बालक प्रतिदिन दिन चढ़ने के बाद काफ़ी देर तक बिस्तर में लेटे रहने की प्रेरणा से प्रभावित होता हो, तो उसे प्रातःकाल उठने के गुण तथा देरी से उठने के दोष बतलाने चाहिएँ यदि वह प्रातःकाल उठेगा, सैर को जायगा अथवा व्यायाम करेगा, तो वह स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा। यदि वह देरी तक सोता रहा, तो वह कोई कार्य नहीं कर सकेगा और सारा दिन अस्वस्थ तथा अप्रसन्न रहेगा। इन उपायों के द्वारा, शिक्षक को आवश्यकता से अधिक प्रेरणा से प्रभावित (Over-impulsive) होने वाले शिशुओं को सुधारना चाहिए।

सविकल्पक क्रिया (Voluntary Action)—सविकल्पक क्रिया, क्रियात्मक मानसिक क्रिया की चरम सीमा है। जिस प्रकार ज्ञानात्मक अथवा विचारात्मक मानसिक क्रिया ऐन्द्रिय ज्ञान से आरम्भ होकर तर्क में समाप्त होती है, ठीक उसी तरह क्रियात्मक मनो-प्रक्रिया भी ऐन्द्रिय ज्ञानात्मक सहज क्रियाओं से आरम्भ होकर सविकल्पक क्रिया अथवा संकल्प-युक्त क्रिया में समाप्त होती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है शिशु काफ़ी अनु-भव प्राप्त करने के पश्चात् इस क्रिया के स्तर पर पहुँचता है। सविकल्पक क्रिया प्रेरित क्रिया की अपेक्षा अधिक गम्भीर तथा जटिल है। प्रेरित क्रिया साधारण होती है; उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। प्रेरणा होते ही, विचार क्रिया में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु सविकल्पक क्रिया में एक से अधिक प्रेरणाओं का परस्पर संघर्ष होता है तथा विचार को क्रिया में परिवर्तित करने के लिए काफ़ी समय लगता है। किन्तु सविकल्पक क्रिया का विश्लेषण करने से पूर्व हमें प्रेरणा, इच्छा, अभिलाषा अथवा संकल्प के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कुछ जान लेना चाहिए।

क्रियात्मक मानसिक क्रिया की वृद्धि में प्रेरणा, भूख, इच्छा तथा अभिलाषा आदि का स्थान क्रमशः सोपान की भाँति है। प्रेरणा में केवलमात्र, क्रिया की उत्तेजना का बोध होता है। किन्तु भूख हमारे शरीर की उत्कण्ठा है, जो हमें क्रिया के लिए उत्तेजित करती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ भूख शब्द का अर्थ विस्तृत है। उदाहरण-स्वरूप, भूख, तृष्णा, निद्रा इत्यादि सब हमारे शरीर की उत्कण्ठाएँ तृप्त हो जाती हैं, तो हमें आनन्द की प्राप्ति होती है। भूख और उत्कण्ठा, दोनों चेतन तथा बिना लक्ष्य की प्रवृत्तियाँ हैं। किन्तु भूख में उस वस्तु की चेतना के साथ, जो कि उसे तृप्त कर सकती है, आनन्द वा दुःख का आभास भी होता है। यदि भूख की तृप्ति हो जाय, तो हमें सुख व आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि उसकी तृप्ति न हो, तो हम दुःख अथवा पीड़ा का अनु-भव करते हैं। भूख की अपेक्षा इच्छा ऊँची श्रेणी की क्रिया है। इच्छा अथवा वासना में, हमें न केवल तृप्ति की प्रेरणा तथा तृप्त करने वाली वस्तु की चेतना होती है अपितु उसमें इच्छित वस्तु के प्रति उसका अच्छा या बुरा होने का, अथवा उपयोगी या अनुपयोगी

होने का निर्णय भी साथ ही होता है। मनुष्य और अन्य प्राणियों की आकांक्षाएँ अथवा भूख की क्रियाएँ तो समान होती हैं। किन्तु मनुष्य भूख के होते हुए भी, उस समय उसकी पूर्ति नहीं चाहता जिस समय वह उस पूर्ति को अनुचित समझता हो। दूसरे शब्दों में मनुष्य की भूख केवल उत्कण्ठा ही नहीं होती, अपितु इच्छा होती है। उसकी भूख में केवल सुख व दुःख का भाव ही नहीं होता, अपितु विचार और तर्क भी होता है। जब एक कुत्ते को भूख लगती है, तो वह किसी के चौके में जाकर मुँह मारता अथवा किसी शिशु के हाथ से रोटी का टुकड़ा छीन लेता है। किन्तु जब किसी मनुष्य को भूख लगती है, तो वह ऐसा व्यवहार नहीं करता। इसका कारण यही है कि मनुष्य की भूख केवल भूख नहीं होती, अपितु वह उसके विचार, तर्क अथवा दृष्टिकोण से प्रभावित होती है। यही कारण है कि हम एक मनुष्य के चरित्र का अनुमान उसकी इच्छाओं से लगा सकते हैं। किसी मनोवैज्ञानिक ने ठीक कहा है कि हम जो वस्तु चाहते हैं, उसी के प्रति इच्छा करते हैं और हमारे चाहने की रुचि ठीक-ठीक बतलाती है कि हम क्या चाहते हैं? दूसरे शब्दों में हमारी रुचि और इच्छा हमारे चरित्र का दर्पण हैं।

किन्तु हमारी इच्छाएँ बिखरी हुई नहीं होतीं और न ही वे एकान्त में अपना अस्तित्व रखती हैं। प्रत्येक इच्छा अपने-अपने क्षेत्र (Universe) में महत्त्व रखती हैं। उस क्षेत्र से बाहर उस इच्छा का कोई महत्त्व नहीं रहता। यही कारण है कि हम किसी वस्तु की एक समय पर इच्छा करते हैं, तो दूसरे समय पर उसी वस्तु से घृणा करते हैं। जिन वस्तुओं के प्रति शैशवावस्था में हमारी प्रबल इच्छा रहती है, युवावस्था में हम उन्हीं वस्तुओं को नापसन्द करते हैं। छोटे शिशु पढ़ाई की अपेक्षा खेल की ओर अधिक आकर्षित होते हैं; किन्तु जब वे बड़े हो जाते हैं और अपने उत्तरदायित्व को समझने लगते हैं, तो उनकी इच्छा में परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण, जैसा कि पहले कहा गया है, हमारी इच्छाओं का क्रमिक आयोजन अथवा क्षेत्र (वातावरण) है। जब कोई इच्छा अपने क्षेत्र से बाहर होती है, तो व्यर्थ हो जाती है। अतः जो इच्छा शैशवावस्था के क्षेत्र में महत्त्व रखती है, वह बाल्यकाल के क्षेत्र में निरर्थक हो जाती है। इसी प्रकार जो इच्छा बाल्यकाल के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण होती है, वह प्रौढ़ावस्था के क्षेत्र में तुच्छ हो जाती है। हम अपनी इच्छाओं में प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक मास, प्रत्येक दिन एवं प्रत्येक घण्टे में परिवर्तन करते रहते हैं। हमारे विचारों तथा दृष्टिकोण के परिवर्तन से हमारी इच्छाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं। किन्तु हमारी बहुत-सी इच्छाएँ समान भी रहती हैं। इच्छाओं की समानता तथा दृढ़ता चरित्र का मुख्य लक्षण होता है। वास्तव में हम प्रत्येक व्यक्ति के इच्छा के स्थायी दृष्टिकोण के आधार पर ही उसके चरित्र का अनुमान लगाते हैं। उदाहरणस्वरूप, हम उस व्यक्ति को कृपण कहते हैं, जिसकी इच्छाओं का क्षेत्र अथवा दृष्टिकोण कृपणता सम्पन्न हो। इसी प्रकार, हम उस व्यक्ति को

उदारचित्त कहते हैं, जिसकी इच्छाओं के वातावरण में उदारता का राज्य हो। दूसरे शब्दों में इच्छाओं के स्थायी वातावरण का नाम चरित्र है।

इच्छाओं का संघर्ष—हमारी इच्छाएँ न केवल एक दूसरी से भिन्न तथा असमान होती हैं, अपितु वे कई बार एक दूसरी के प्रतिकूल तथा परस्पर-विरोधी भी होती हैं। ऐसी इच्छाओं का प्रायः परस्पर संघर्ष हो जाता है। ऐसा संघर्ष प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनेक बार हुआ करता है। मान लीजिये, एक महाविद्यालय के आचार्य का पुत्र उसी महाविद्यालय में अनुशासन को भंग करता है। अब महाविद्यालय के आचार्य की दशा एक दुविधा की दशा हो जाती है। उसकी एक इच्छा अपने पुत्र को दण्ड देने की होती है और दूसरी इच्छा उसको क्षमा कर देने की होती है। इन दो इच्छाओं का परस्पर संघर्ष हो जाता है और वह आचार्य इस अव्यवस्था को सुलझाने में असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार एक नीतिज्ञ अपने देश का नेता होने के नाते किसी अन्य राष्ट्र के साथ युद्ध करने की इच्छा इसलिए रखता है कि वह राष्ट्र उसके देश का शत्रु है; किन्तु विश्व-शान्ति को स्थापित रखने के दृष्टिकोण से वह युद्ध करना नहीं चाहता। अब उसके मन में इन दो इच्छाओं का परस्पर संघर्ष होता है। लड़ाई होती है; एक प्रचण्ड युद्ध होता है। यह परस्पर संघर्ष केवल दो इच्छाओं का ही नहीं होता, अपितु दो दृष्टिकोणों का युद्ध होता है। इस युद्ध के अन्दर हम स्वयं ही विरोधी सेनाएँ, स्वयं ही योद्धा तथा स्वयं ही युद्ध-क्षेत्र होते हैं। यह युद्ध हमारे एक व्यक्तित्व का हमारे ही दूसरे व्यक्तित्व से होता है। हम स्वयं ही विजेता और स्वयं ही पराजित होते हैं। अन्त में इस संघर्ष का परिणाम निकलता है और हमारी वही इच्छा विजयी होती है जिसका सम्बन्ध हमारे प्रधान स्थायी वातावरण से होता है। ऊपर दिये हुए उदाहरण में यदि महाविद्यालय के आचार्य की इच्छाओं का प्रधान स्थायी क्षेत्र (Dominant Universe of Desires) अपने कर्तव्य के पालन करने का है तो उसके इस संघर्ष में अपने पुत्र को दण्ड देने की इच्छा विजयी होगी। जब इच्छाओं के परस्पर संघर्ष में एक इच्छा विजयी हो जाती है और दूसरी पराजित, तो विजयी इच्छा आकांक्षा (Wish) बन जाती है। किन्तु यह आकांक्षा भी अभी संकल्प (Will) में परिवर्तित नहीं होती! हम कई वस्तुओं की आकांक्षा करते हैं, किन्तु उनके प्रति संकल्प नहीं करते। जब हम आकांक्षा की हुई वस्तु को विवेचना-पूर्वक वांच्छनीय समझ लेते हैं; जब हम आकांक्षा के परिणाम का पूरा-पूरा अनुमान लगा लेते हैं, और उसको अयोग्य समझते हैं; तो हम उस आकांक्षा को संकल्प में परिवर्तित कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप, एक साधारण छात्र विश्व भर का सम्राट् बनने की आकांक्षा तो कर सकता है, किन्तु वह ऐसा करने का संकल्प नहीं करता। इसके विरुद्ध वह परीक्षा में उत्तीर्ण होने का संकल्प अवश्य कर लेता है, क्योंकि वह अपने आपको इस कार्य की सफलता के साधन जुटाने के योग्य समझता है। इस प्रकार संकल्प करने के पश्चात्, हम

निश्चित क्रिया को वास्तव में कार्यरूप में परिणत कर देते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि संकल्प करने में तथा संकल्प को सक्रिय बनाने में अन्तर है। संकल्प तो केवल एक निश्चय है, जो कि भविष्य से सम्बन्ध रखता है। किन्तु हमारे सब निश्चय सर्वदा कार्यरूप में परिणत नहीं होते। उदाहरणस्वरूप, हम प्रातःकाल उठने का संकल्प कर सकते हैं; किन्तु जब प्रभात हो जाय तो सम्भव है कि हम बिस्तर ही न छोड़ें और अपने उस निश्चय को सक्रिय न बनायें।

सविकल्पक क्रिया का स्वरूप—संकल्प के उपरोक्त विश्लेषण के पश्चात् हम सविकल्पक क्रिया के रूप को जान सकते हैं। सविकल्पक क्रिया में एक से अधिक प्रेरणाओं में परस्पर संघर्ष होता है। उस संघर्ष के समय हमारे मन की स्थिति डाँवाँडोल होती है और दोनों प्रेरणाओं के पक्ष तथा विपक्ष में हमारा विचार-विमर्श होता है, किन्तु यह अवस्था चिरकाल तक नहीं रहती। अन्त में हम दोनों क्रियाओं में से एक को चुन लेते हैं और उसको कार्यरूप में परिणत कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब एक बालक इस दुविधा में पड़ जाता है कि क्या वह एक विद्वान् का भाषण सुनने जाय, जो कि उसके महाविद्यालय में रात्रि को होना है; अथवा जूलियस सीज़र नाम के विख्यात् चित्र को सिनेमा-हॉल में देखने के लिए जाय, जो कि केवल एक दिन के लिए सिनेमा में दिखाया जा रहा है, तो उसके सामने दो क्रियाएँ अथवा दो प्रेरणाएँ होती हैं, जिनमें से उसे एक को चुनना होता है। किन्तु ऐसा निर्णय करने से पूर्व उसकी चेतना में संघर्ष होता है। वह दोनों क्रियाओं के गुण-दोषों पर विचार करता है। प्रथम उसे विचार आता है, कि 'मेरी परीक्षा निकट है; एक विद्वान् प्रोफेसर बाहर से आये हुए हैं; उनका भाषण परीक्षा के लिए उपयोगी होगा।' वह फिर सोचता है कि 'नहीं, आज मैं सारे दिन परिश्रम करता रहा हूँ और थक कर चूर हो गया हूँ; सिनेमा जाने से कुछ मनोरंजन होगा तथा थकावट दूर हो जायगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मनोरंजन मानसिक विकास के लिए आवश्यक है और फिर जूलियस सीज़र केवल आज के लिए ही तो दिखाया जा रहा है।' फिर वह सोचता है कि 'भाषण सुनने में मुझे कोई थकावट का अनुभव तो होगा ही नहीं। मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से निरन्तर एक ही विषय का अध्ययन करना तो स्मृति के लिए हानिकारक है, किन्तु आज का भाषण तो उस विषय पर है ही नहीं, जिसे मैं आज पढ़ता रहा हूँ। जूलियस-सीज़र तो फिर भी सिनेमा में कभी दिखलाया जायगा, किन्तु ऐसे विद्वान् तो बार-बार भाषण देने नहीं आते।' इस प्रकार विचार करने के पश्चात् वह छात्र भाषण सुनने का निश्चय करता है और उसी क्रिया को चुनता है। अतः सविकल्पक क्रिया में दुविधा, विचार-विमर्श, निश्चय तथा चुनाव होता है।

सविकल्पक क्रिया तथा प्रेरित क्रिया में अन्तर केवल इतना है कि प्रेरित क्रिया में मनुष्य प्रेरणा के आते ही क्रिया कर डालता है; किन्तु सविकल्पक क्रिया में प्रेरणा की

जाँच की जाती है; उनको तर्क की कसौटी पर कसा जाता है, और दृढ़ निश्चय तथा संकल्प के पश्चात् क्रिया को कार्यरूप में परिणत किया जाता है। चरित्र के निर्माण में सविकल्पक क्रिया की प्रधानता का होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति का संकल्प दृढ़ और निश्चय स्थिर होता है उसका चरित्र ऊँचा होता है। संकल्प को दृढ़ बनाने के लिए हमें प्रेरणा के समय सावधानी से विचार करना चाहिए। यदि हम धीरे-धीरे विचार करने के पश्चात् प्रत्येक क्रिया को करने का अभ्यास डालें, तो हमारा संकल्प दृढ़ हो सकता है।

अभ्यास

१. क्रिया कितने प्रकार की होती है?

२. सहज क्रिया कितने प्रकार की होती है? औपाधिक सहज क्रिया की पूर्ण व्याख्या करो।

३. तत्काल प्रेरित क्रिया का क्या अर्थ है? उसका शिक्षा मनोविज्ञान में क्या स्थान है?

४. मूल प्रवृत्यात्मक क्रिया, तत्काल प्रेरित क्रिया तथा सहज क्रिया की तुलना करते हुए इन क्रियाओं की परस्पर समानता तथा भेद पर प्रकाश डालो।

५. सविकल्पक क्रिया का क्या अर्थ है? इस क्रिया के भिन्न स्तरों पर प्रकाश डालो।

६. सविकल्पक क्रिया का शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या स्थान है?

७. जिस बालक में तत्काल प्रेरित क्रिया का आधिक्य हो, उसका क्या उपचार किया जा सकता है?

८. इच्छाओं के परस्पर संघर्ष का बालक के व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है?

आठवाँ अध्याय

अनुकरण तथा क्रीड़ा (Imitation and Play)

अनुकरण

अनुकरण का अर्थ—अनुकृति अथवा अनुकरण भी मनुष्य की जन्मजात् प्रवृत्ति है। कई मनोवैज्ञानिकों ने इसको मूल प्रवृत्ति माना है। श्री मैकडूगल ने इसको सामान्य जन्मजात् प्रवृत्ति बतलाया है, क्योंकि प्रवृत्ति किसी विशेष संवेग (Emotion) से सम्बन्धित नहीं रहती और न ही इसमें मूल-प्रवृत्ति की परिभाषा के सब लक्षण हैं। अनुकरण का साधारण अर्थ केवल नकल करना है। बालक शैशवावस्था से अनुकरण करता है; किन्तु आरम्भ में अनुकरण स्पष्ट तथा अनायास होता है। जब अनुकरण केवल क्रिया सम्बन्धी हो, तो उसे केवल अनुकरण (Imitation) कहते हैं। जब अनुकरण राग अथवा भाव सम्बन्धी हो, तो उसे सहानुभूति (Sympathy) का नाम दिया जाता है तथा विचारों के अनुकरण को निर्देश (Suggestion) कहा जाता है। क्योंकि बालकों के चरित्र का निर्माण शिक्षकों के तथा माता-पिता के चरित्र के आधार पर होता है और बालक अपने जीवन की ज्ञानात्मक, रागात्मक तथा क्रियात्मक वृत्तियों में गुरुजनों का अनुकरण करते हैं, इसीलिए यह आवश्यक है कि शिक्षक बालक की सहानुभूति को प्रेरित करता हुआ निर्देश के द्वारा उसे स्वयं अच्छे मार्ग पर चलकर तथा अपना ही अच्छा उदाहरण उपस्थित करके अनुकरण करने के लिए प्रेरित करे। किन्तु शिशु प्रत्येक अवस्था में हर बात का अनुकरण नहीं कर सकता। उसकी अनुकरण की प्रवृत्ति भी परिवर्तनशील है। शिशु के व्यक्तित्व के विकास में अनुकरण की पाँच निम्नलिखित अवस्थाएँ मानी गई हैं :—

(१) सहज अनुकरण (Reflex Imitation)।

(२) स्वच्छन्द अनुकरण (Spontaneous Imitation)।

(३) अभिनयात्मक अनुकरण (Dramatic Imitation)।

(४) पूर्वकल्पित अनुकरण अथवा प्रयोजनयुक्त अनुकरण (Voluntary Imitation)।

(५) आदर्श अनुकरण (Ideal Imitation)।

सहज अनुकरण—सहज अनुकरण का अर्थ सहज क्रिया का अनुकरण है। इस प्रकार का अनुकरण प्रायः शैशवकाल के प्रथम वर्ष में ही होता है। जब छोटा-सा शिशु स्वयं ही चिल्लाता है अथवा भूख के कारण रोता है, तो उसकी यह सहज क्रिया स्वाभाविक होती है। किन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि एक शिशु जब किसी शिशु को रोते हुए सुनता है, तो वह भी रोने लगता है। शिशु का यह अनुकरण सहज अनुकरण कहलाता

है। इसी प्रकार शिशु दूसरों को हँसता हुआ देखकर हँसने का सहज अनुकरण करता है।

स्वच्छन्द अनुकरण—ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है, वह दूसरों की क्रियाओं की नकल करने लगता है। किन्तु प्रारम्भ में उसे अनुकरण करते समय स्वयं ज्ञान नहीं होता, बल्कि उसकी ज्ञान-क्रियाएँ स्वच्छन्द अनुकरण के आधार पर ही निर्मित होती जाती हैं। जब शिशु माता-पिता से कोई शब्द सुनता है, तो उस शब्द का अनुकरण करता है। इसी प्रकार वह सिर हिलाता है और चलना सीखता है। स्वच्छन्दानुकरण प्रवृत्ति बालक को शिक्षित करने का सर्वोत्तम साधन है। स्वच्छन्द अनुकरण की यह अवस्था एक से पाँच वर्ष तक रहती है।

अभिनयात्मक अनुकरण—शिशु की बुद्धि के विकास के साथ-साथ उसकी क्रियाओं में परिवर्तन होता जाता है। बाल्यकाल में उसका अनुकरण स्वच्छन्दता की सीमा को पार करके अभिनयात्मक हो जाता है। अपनी क्रीड़ाओं में वह गुरुजनों का अनुकरण करता है; किन्तु ऐसा करते समय वह उन क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, एक बालक अन्य बालकों को शिष्य मानकर स्वयं गुरु बन बैठता है। कई बार वह सैनिक का अभिनय करता है, युद्ध करता है तथा विजयी बनता है। प्रायः बालक कमर झुकाकर बूढ़े बन जाते हैं; बालिकाएँ गुड़िया की माता बनकर उसका विवाह रचाती हैं। ये सब क्रीड़ाएँ अभिनयानुकरण हैं।

पूर्वकल्पित अनुकरण—अनुकरण की इस अवस्था में अनुकरण करने वाले को प्रयास करना पड़ता है। यह अनुकरण पूर्वकल्पित होता है तथा बालक अनुकरण करते समय उसके प्रयोजन को जानता है। अक्षरों को पढ़ते समय तथा लिखते समय बालक प्रयास करके गुरु का अनुकरण करता है। इसी प्रकार जब हम कोई संगीत, यंत्र, बाजा इत्यादि सीखते हैं तो पूर्वकल्पित अनुकरण का प्रयोग करते हैं। पूर्वकल्पित अनुकरण शैशवावस्था में नहीं होता। जब तक बालक ऐसा अनुकरण करने के योग्य न हो जाय, उसे विवश करके शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

आदर्श अनुकरण—अनुकरण की इस अवस्था में बालक की क्रिया न केवल पूर्वकल्पित होती है बल्कि वह किसी लक्ष्य या ध्येय को सामने रखकर उसकी प्राप्ति की चेष्टा करता है। वह किसी महापुरुष के आदर्श पर चलकर अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करता है। अनुकरण की यह अवस्था बाल्यकाल में दीख नहीं पड़ती। बारह वर्ष से कम आयु के बालक आदर्श अनुकरण का प्रयोग नहीं कर सकते। यह अनुकरण किशोरावस्था में उपस्थित रहता है। आदर्श अनुकरण में बालक न केवल क्रियाओं का तथा भावनाओं का ही अनुकरण करता है, अपितु विचारों का अनुकरण भी साथ ही करता है। यही कारण है कि जो सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्कार बालक इस आयु में ग्रहण करता है, वे आयुपर्यन्त उसके साथ रहते हैं। शिक्षकों के लिए आवश्यक है कि किशोरावस्था में बालक को अनेक महापुरुषों के जीवन-चरित्रों से परिचित करें। विद्यालयों में बालकों को

हर प्रणाली के प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन-चरित्र पढ़ाने चाहिएँ, ताकि प्रत्येक बालक अपनी इच्छा तथा रुचि के अनुसार किसी आदर्श पुरुष का अनुकरण करके अपना भविष्य बनाय। अतः विद्यालय के पुस्तकालय में वीर पुरुषों, कवियों, वैज्ञानिकों, कलाकारों तथा राजनीतिज्ञों के जीवन-चरित्र अवश्य होने चाहिएँ।

अनुकरण का महत्त्व—शिक्षा के दृष्टिकोण से अनुकरण प्रवृत्ति का बड़ा महत्त्व है। वास्तव में मनुष्य अपने जीवन में अधिकांश अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। अतः बालक की इस प्रवृत्ति के द्वारा ही शिक्षक उसे उन्नति के मार्ग पर ले जा सकता है। बालक दुर्व्यसनों का अनुकरण भी कर सकते हैं। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालक की अनुकरण की प्रवृत्ति को कुमार्ग पर जाने से रोके। इसके साथ-साथ बालक को मौलिक कार्य करने का अवसर भी दिया जाना चाहिए, नहीं तो बालक हमेशा के लिए दूसरों पर निर्भर रहने का आदी बन जाता है। प्रायः छोटे-छोटे बालकों को बड़े-बड़े आदर्शवादी भाषण सुनाये जाते हैं। उन्हें सत्य, अहिंसा, धर्म इत्यादि जैसे गूढ़ विषयों की शिक्षा आदि-काल से दी जाती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह लाभप्रद होने की अपेक्षा हानिकारक है। जब तक बालक में आदर्श को समझने की योग्यता न हो, वह आदर्शानुकरण नहीं कर सकता। किशोरावस्था से पहले किसी हालत में भी बालकों पर उच्च आदर्श नहीं थोपने चाहिएँ। इसकी अपेक्षा उनके स्वच्छन्दानुकरण, अनिच्छानुकरण तथा पूर्व-कल्पित अनुकरण का सदुपयोग करना चाहिए।

क्रीड़ा (Play)

क्रीड़ा का अर्थ—हम प्रायः जानते हैं कि क्रीड़ा का क्या अर्थ है, किन्तु क्रीड़ा की परिभाषा कुछ कठिन है। क्रीड़ा तथा अक्रीड़ा में अन्तर बतलाना कोई सहज कार्य नहीं है। एक व्यक्ति के लिए एक कार्य क्रीड़ा हो सकता है, किन्तु वही कार्य अन्य व्यक्ति के लिए प्रयत्नपूर्ण तथा प्रयासात्मक क्रिया हो सकता है। किन्तु फिर भी हम क्रीड़ा के सामान्य लक्षण बता सकते हैं। क्रीड़ा एक स्वच्छन्द कार्य है, जिसका अपना ही लक्ष्य होता है। इसमें कोई बाहरी दबाव नहीं होता, बल्कि आन्तरिक प्रेरणा होती है। जब बालक प्रसन्नता-पूर्वक गेंद से खेलते हैं, तो वे क्रीड़ा करते हैं। जब दो पिल्ले एक दूसरे का पीछा करते हुए एक दूसरे को काटने का बहाना करते हैं तथा एक दूसरे को नीचे गिराते हैं और भौंकते हैं, तो वे क्रीड़ा करते हैं। एक बिल्ली का बच्चा ऊन के गोले से खेलता है; एक शिशु दुर्ग बनाकर तथा समुद्र के किनारे पर लहरों का चित्रण करके क्रीड़ा करता है। इसी प्रकार छोटी बालिका घर बनाकर खेलती है; कुछ बड़े बालक अध्यापक तथा शिष्य का अभिनय करके क्रीड़ा करते हैं। ये सब क्रीड़ा के उदाहरण हैं। किन्तु जब दो कुत्ते वास्तव में एक दूसरे से लड़ने लगते हैं, जब काटने से खून बहने लगता है तथा भौंकना गुर्राने में परि-वर्तित हो जाता है, तो हम उस लड़ाई को क्रीड़ा नहीं कह सकते। जब बिल्ली का बच्चा

ऊन के गोले के बजाय चूहे का पीछा करता है, तो वह क्रीड़ा से कुछ अधिक कर रहा है; विशेषकर जब कि वह भूखा हो। किन्तु श्री कार्लग्रूस के मतानुसार क्रीड़ा जीवन के गम्भीर कार्य की शिक्षा का साधन है। क्रीड़ा तथा कार्य में अन्तर बताना कोई सहज बात नहीं है। क्रीड़ा निरन्तर कार्य में परिवर्तित होती रहती है। श्री स्टर्न (Stern) की परिभाषा के अनुसार क्रीड़ा स्वतन्त्र तथा स्वलक्ष्य क्रिया है। जो क्रिया बाध्य होकर अथवा बाहरी दबाव के कारण की जाय, वह क्रीड़ा नहीं, अपितु गम्भीर कार्य है। क्रीड़ा का सामान्य लक्षण स्वच्छन्दता तथा स्वतन्त्रता है। जब शिशु गेंद के साथ खेलता है, उसको कोई व्यक्ति अथवा नियम ऐसा करने को बाध्य नहीं करता। क्रीड़ा में प्रायः नियम भी होते हैं, किन्तु क्रीड़ा करने वाले व्यक्ति उन नियमों का अपनी इच्छा के कारण पालन करते हैं, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से क्रीड़ा नियमित होते हुए भी स्वतन्त्र क्रिया है। अतः जो क्रिया स्वतन्त्रता से अबाध्य रूप में की जाय तथा जिससे आनन्द भी प्राप्त हो, उसे क्रीड़ा अथवा खेल कहते हैं। इस व्यापक परिभाषा के अनुसार जब एक कलाकार मग्न होकर अपनी कला की रचना करता है, अथवा कवि स्वच्छन्दता से कविता लिखता है, तो वह क्रीड़ा कर रहा है। इसी दृष्टिकोण से महाभारत में भगवान् कृष्ण के कार्यों को लीला कहा गया है, और इसी दृष्टिकोण से वेदान्त में सृष्टि को ब्रह्म की लीला माना गया है।

क्रीड़ा के सिद्धान्त—अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि क्रीड़ा, किसी भी अवस्था में व्यर्थ क्रिया नहीं है। क्रीड़ा के यथार्थ उद्देश्य के प्रति मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। अतः विभिन्न विद्वानों ने क्रीड़ा के विभिन्न सिद्धान्त उपस्थित किये हैं, जिनमें से निम्न-लिखित चार सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं :—

१. शक्ति बाहुल्य सिद्धान्त अथवा प्रवृद्ध शक्ति व्यय सिद्धान्त (Surplus Energy Theory)।

२. विश्राम सिद्धान्त (Recreation Theory)।

३. भावी जीवन तत्परता सिद्धान्त अथवा कार्लग्रूस सिद्धान्त (Anticipatory Theory)।

४. पुनरावृत्ति सिद्धान्त (Recapitulatory Theory)।

शक्ति बाहुल्य सिद्धान्त अथवा प्रवृद्ध शक्ति व्यय सिद्धान्त—यह सिद्धान्त श्री स्पैन्सर तथा उसके अनुयायियों का है। इस मत के अनुसार क्रीड़ा अथवा खेल केवल आवश्यकता से अधिक शक्ति के प्रयोग करने का साधन है। क्योंकि पशुओं को तथा शिशुओं को अन्न प्राप्त करने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता, अतः उनमें जीवन-शक्ति का आधिक्य हो जाता है। प्रकृति ने इस प्रवृद्ध शक्ति के व्यय के लिए शिशुओं को क्रीड़ा की प्रवृत्ति प्रदान की है। जिस प्रकार भाप का आधिक्य होने पर ऐंजिन भाप को

छोड़ता है, उसी प्रकार बालक में जब जीवन-शक्ति का संचय मात्रा से बढ़ जाता है, तो वह खेल के द्वारा उसका व्यय करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ सीमा तक यह सिद्धान्त भी ठीक है, किन्तु क्रीड़ा के लिए केवल इतनी ही व्याख्या पर्याप्त नहीं है और न ही बालक की ऐंजिन से उपमा दी जा सकती है। ऐंजिन जिस समय भाप छोड़ता है, तो उससे उसकी आकृति अथवा उसकी क्रिया में कुछ वृद्धि अथवा उन्नति नहीं होती, किन्तु बालक की क्रीड़ा उसके शारीरिक विकास में तथा नई क्रियाओं को सीखने में सहायक होती है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बालक केवल उसी समय क्रीड़ा नहीं करते, जबकि वे शक्ति का आधिक्य अनुभव करते हों; बल्कि साधारण अवस्था में देखा गया है कि प्रायः बालक उस समय क्रीड़ा करते हैं, जबकि वे अन्य कारणों से थके हुए हों तथा उनकी शक्ति क्षीण हो चुकी हो। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि प्रवृद्ध शक्ति व्यय सिद्धान्त क्रीड़ा पर शत-प्रतिशत लागू नहीं हो सकता।

विश्राम सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार क्रीड़ा केवल एक विश्राम का साधन है, जो हमारी क्षीण हुई हुई शक्ति को पुष्टि देता है। जब बालक अथवा प्रौढ़ परिश्रम करते-करते थक जाते हैं, तो क्रीड़ा उनको विश्रामप्रद, आनन्ददायक होती है। जीवन के संग्राम में मनुष्य जीवन की कठिनाइयों को कुछ समय के लिए भूलना चाहता है। अतः क्रीड़ा उसके मनोरंजन का साधन बनती है। किन्तु यह सिद्धान्त केवल प्रौढ़ लोगों के खेल की व्याख्या करता है। शिशुओं की क्रीड़ा को जीवन की कठिनाइयों से बचने का साधन नहीं माना जा सकता। शिशु तो स्वभावतया क्रीड़ा करता है। अतः यह सिद्धान्त भी संकुचित है। यह सिद्धान्त केवल उन लोगों का है, जो दिनभर के परिश्रम से पीड़ित होकर मनोरंजन के लिए खेल खेलते हैं।

भावी जीवन-प्रदर्शक सिद्धान्त अथवा कार्लग्रूस सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार क्रीड़ा जीवन के गम्भीर कार्य के लिए शिक्षित करने का स्वाभाविक साधन है। क्रीड़ा के द्वारा पशु भी अपने आपको भावी जीवन की परिस्थितियों का सामना करने के लिए उद्यत करते हैं। जब दो पिल्ले आपस में खेलते हैं तथा एक दूसरे का पीछा करते हैं, तो वे वास्तव में सीख रहे होते हैं कि आगे चलकर वे किस प्रकार अन्य पशुओं से लड़ाई करेंगे तथा शिकार करेंगे। महापुरुषों के जीवन प्रमाणित करते हैं कि शैशवावस्था के खेल उनके जीवन-कार्य के सूचक हैं। श्रीमती फ्लोरेंस नाइटिंगेल शैशवावस्था में ही गुड़ियों की परिचर्या किया करती थी, अतः प्रौढ़ावस्था में उसने अपने देश के सैनिकों की क्रीमिया के युद्ध में परिचर्या करके एक अद्वितीय कार्य किया। इसी प्रकार बड़े-बड़े महापुरुषों ने जो-जो प्रशंसनीय कार्य किये हैं, उन्होंने अपनी बाल-क्रीड़ा में ही परोक्ष रूप में उन कार्यों का प्रदर्शन किया है। वैज्ञानिकों की खोज ने भी इस बात को सिद्ध किया है कि जो प्राणी जितना भी अधिक समय खेल में बिताते हैं, वे उतना ही अधिक सीखते

हैं। क्योंकि मनुष्य को बहुत कुछ सीखना होता है, इसलिए उसका क्रीड़ाकाल भी अन्य पशुओं की अपेक्षा अधिक होता है। इस सिद्धान्त के नेता श्री कार्लग्रूस हैं।

पुनरावृत्ति सिद्धान्त—क्योंकि विकासवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति के विकास में अन्तिम सीढ़ी है, अतः उसके जीवन में पशुओं की सब अवस्थाओं की पुनरावृत्ति होती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने से पहले पशुओं की अवस्था को पार करना होता है। अतः उसकी सब क्रियाओं को पुनरावृत्ति के दृष्टिकोण से देखना चाहिए। यही कारण है कि कार्लग्रूस की क्रीड़ा की व्याख्या पर्याप्त नहीं है। कार्लग्रूस महाशय ने क्रीड़ा को विकासवाद के दृष्टिकोण से नहीं समझा। वह केवल शैशवकाल की कुछ क्रीड़ाओं की व्याख्या करता है, और बहुत सी प्रौढ़ तथा युवकों की क्रीड़ाओं को छोड़ देता है। अतः श्री स्टैन्ले हाल (Stanley Hall) ने उसका विरोध किया है। उसके विचार में शैशव-क्रीड़ा में शिशु उन सब वृत्तियों का प्रदर्शन करता है जो कि उसके पूर्वजों ने अपने जीवन-काल में कार्यरूप में की है। अतः शैशवावस्था में क्रीड़ा के द्वारा शिशु इन प्रवृत्तियों से निवृत्त हो जाता है।

आलोचना—शिक्षा के दृष्टिकोण से क्रीड़ा के चारों सिद्धान्त अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रीड़ा के द्वारा प्रकृति शिशु की प्रवृद्ध शक्ति का व्यय करती है। प्रौढ़ों के लिए क्रीड़ा मनोरंजन तथा विश्राम का साधन भी अवश्य है। शिशुओं की क्रीड़ा उनके भावी जीवन के लिए भी उनको उद्यत करती है। स्टैन्ले हाल के मतानुसार क्रीड़ा के द्वारा शिशु प्राचीन असभ्य वृत्तियों से निवृत्ति भी प्राप्त करता है। शिक्षक को चाहिए कि वह इन चारों सिद्धान्तों से लाभ उठाकर क्रीडा का शिक्षा में सदुपयोग करे।

क्रीड़ा के लक्षण—क्रीड़ा स्वच्छन्द तथा स्वलक्ष्य क्रिया होने के कारण कार्य से भिन्न है, जो कि बाहरी दबाव के कारण किया जाता है। क्रीड़ा न केवल स्वच्छन्द है, अपितु वह आनन्दमय भी है। कार्य स्वच्छन्द तथा आनन्दमय नहीं होता। किन्तु जब कोई गम्भीर कार्य हमारे अन्तःकरण से स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित होता है, तो आनन्दमय बन जाता है। महान् कलाकार, रचनात्मक कार्य करता हुआ, अपने कार्य से खेलता हुआ नजर आता है। अतः उससे आनन्द भी प्राप्त करता है। क्रीड़ा का एक और लक्षण उसमें कल्पनात्मक विश्वास (Make-belief) की उपस्थिति है। एक शिशु जब दीवार पर चढ़कर बैठता है, कल्पनात्मक विश्वास के कारण उसे अपना घोड़ा समझता हुआ खेलता है। इसी प्रकार एक छोटी बालिका अपनी गुड़िया को बीमार समझती हुई सावधानी से उसकी परिचर्या करती है। क्रीड़ा का यह मनोवैज्ञानिक लक्षण, शिशु की आत्म-प्रकाशन की मूल प्रवृत्ति को तृप्त करता है और उसे जीवन के गम्भीर कार्य करने के लिए तत्पर करता है। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है, वह कल्पनात्मक विश्वास की अवस्था को पार करके

जीवन की वास्तविकता में प्रवेश करता है।

क्रीड़ा के प्रकार—क्रीड़ा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—वैयक्तिक (Individual) तथा सामूहिक (Group)। वैयक्तिक क्रीड़ाओं के दो भेद हैं—(क) शरीर सम्बन्धी तथा (ख) विषय सम्बन्धी। इसी प्रकार सामूहिक क्रीड़ाओं के भी दो भेद हैं—(क) अनुकरणात्मक (Imitative) तथा (ख) अनुकूलात्मक (Adjustive)। शिशु आठ मास की आयु से शरीर सम्बन्धी क्रीड़ा आरम्भ करता है और दो वर्ष की आयु तक इस क्रीड़ा के द्वारा रेंगना, खड़ा होना तथा चलना सीखता है। आगे चलकर वह विषय सम्बन्धी क्रीड़ा करता है तथा खिलौनों और अन्य निकटवर्ती वस्तुओं से खेलता हुआ तोड़-फोड़ और रचना को सीखता है। खिलौनों को तोड़कर वह उनकी आन्तरिक बनावट को समझता है, और उनको पुनः क्रमशः जोड़कर रचना-प्रवृत्ति (Constructive Instinct) तथा आविष्कारात्मक कल्पना (Inventive Imagination) की वृद्धि करता है। बड़ा होने पर शिशु अपने समूह तथा समाज में दिलचस्पी लेता है। वह अपने समान आयु वालों की तथा मित्रों की अनुकृति करता है। आगे चलकर वह हॉकी, फुटबॉल जैसी सामूहिक क्रीड़ाओं को खेलता है। ऐसी क्रीड़ाओं में वह सामूहिक कार्य करने की प्रकृति को ग्रहण करता है, तथा अपने आपको अवस्था की आवश्यकता के अनुकूल बना लेता है। इसी कारण ऐसी क्रीड़ा को अनुकूलात्मक कहा जा सकता है।

क्रीड़ा-रीति—आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में क्रीड़ा-रीति (Play way) की बहुत चर्चा की जाती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि क्रीड़ा शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। विद्यालयों में बालकों की बुद्धि तथा अवस्था के अनुसार सब क्रीड़ाओं का प्रबन्ध होना चाहिए। किन्तु; इसका अभिप्राय यह नहीं कि छात्रों को खेलने के अतिरिक्त और कोई कार्य ही नहीं कराया जाय। क्रीड़ा-रीति का अर्थ बालक की प्रवृत्ति को उपयोगी कार्य में लगाने का है। शिक्षा तभी सुचारु रूप में दी जा सकती है, जबकि वह बालक के लिए रुचिकर हो तथा वह उससे इतना आकर्षित और प्रभावित हो कि वह उसे खेल समझे। शिशु के व्यक्तित्व के विकास के लिए, शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह शिशु को क्रीड़ा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति से लाभ उठाने में सहायता दे। शिशु के स्वतन्त्र विकास के लिए कम दबाव तथा अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। कलात्मक क्रियाएँ मिट्टी के खिलौनों का बनाना, चित्रकारी, संगीत, नाटक, वाद-विवाद तथा उद्यानारोपण इत्यादि जैसी क्रियाओं को प्रोत्साहन देना चाहिए। विद्यालयों में ऐसा वातावरण उत्पन्न होने पर शिशु विद्यालय से कदापि दूर नहीं रह सकते। छुट्टियों में भी उनके मन में स्कूल जाने की इच्छा बनी रहती है। इसलिए फ्राबैल (Frobel), मॉण्टेसरी (Montessory) तथा डाल्टन (Dalton) जैसे सुधारकों ने शिक्षा में क्रीड़ा-रीति को लागू करने का प्रयास किया है। मॉण्टेसरी और किण्डरगार्टन शिक्षा-रीतियाँ सब

जगह सर्वप्रिय तथा प्रचलित हो रही हैं। मॉण्टेसरी-रीति शिशु को ही अपनी शिक्षा का उत्तरदायित्व देती है। मॉण्टेसरी ने एक यंत्र तैयार किया है, जिसको मॉण्टेसरी यंत्र कहते हैं। इस यंत्र की सहायता से शिशु अपने ही प्रयास से मांसपेशियों तथा इन्द्रियों की शिक्षा प्राप्त करता है और लिखना-पढ़ना तथा गिनना सीख जाता है। डाक्टर मॉण्टेसरी शिशुओं के कल्पनात्मक विश्वास में पड़ जाने के विरुद्ध हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कल्पनात्मक विश्वास शिशु की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः इसका शिक्षा में उपयोग करना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा में शिशु के व्यक्तित्व के विकास के लिए क्रीड़ा-रीति आवश्यक तथा अनिवार्य है।

अभ्यास

१. अनुकृति शब्द का क्या अर्थ है और उसका शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या स्थान है?

२. अनुकरण के भिन्न स्तरों पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि शिशु को अनुकरण से क्या लाभ होता है।

३. शिशुओं को उच्च आदर्शों तथा महापुरुषों के जीवन-चरित्रों की शिक्षा किस अवस्था में देनी चाहिए?

४. क्रीड़ा शब्द का शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या अर्थ है? व्याख्यापूर्वक बतलाओ।

५. क्रीड़ा के भिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए, प्रत्येक सिद्धान्त की आलोचना करो।

६. क्रीड़ा के क्या लक्षण हैं? तथा क्रीड़ा और कार्य में क्या अन्तर है?

७. क्रीड़ा कितने प्रकार की होती है और किस-किस आयु में विशेष प्रकार की क्रीड़ा का प्रादुर्भाव होता है?

८. क्रीड़ा का वैज्ञानिक महत्त्व बतलाते हुए शिक्षा में क्रीड़ा-रीति (Play way) के प्रयोग की आलोचना करो।

नवाँ अध्याय

संवेग (Emotion)

संवेग का अर्थ—संवेग अथवा उद्वेग मनुष्य का वह वैयक्तिक तथा अन्तरात्मक अनुभव है, जिसमें उसकी मानसिक दशा एक उथल-पुथल में होती है। संवेग को प्रायः लोग मूल प्रवृत्ति ही समझ लिया करते हैं, किन्तु ऐसा विचार करना भूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संवेग भी जन्मजात् प्रवृत्ति है, परन्तु जहाँ मूल प्रवृत्ति क्रियात्मक है, संवेग रागात्मक तथा भावात्मक प्रवृत्ति है। इसके अतिरिक्त संवेग मूल प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक वैयक्तिक होता है। संवेग के द्वारा जो उथल-पुथल मन में उत्पन्न होती है, वह किसी विशेष अवस्था के कारण होती है। मानसिक उथल-पुथल के साथ-साथ शारीरिक हलचल भी होती है और यह शारीरिक हलचल संवेग को उग्र रूप देती है। उदाहरणस्वरूप, जब हम साधारण मानसिक अवस्था में हों तो हमारे मन में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता, किन्तु जब सहसा कोई व्यक्ति समाज में हमारे सामने ही हमारा अपमान करे अथवा गालियाँ बकने लगे, तो हमारे मन में एक उथल-पुथल होती है और हम क्रोध का अनुभव करते हैं। इसी मानसिक उथल-पुथल के साथ-साथ रुधिर का संचार तीव्र हो जाता है, आँखें लाल हो जाती हैं तथा अंग-अंग में एक स्फुरणा-सी उत्पन्न होती है। ये सब शारीरिक परिवर्तन क्रोध के संवेग को उग्र बना देते हैं। इसी प्रकार भय, घृणा, कामुकता इत्यादि संवेगों में मानसिक अवस्था होती है।

संवेगों के स्वरूप के लक्षण—संवेगों के स्वरूप के निम्नलिखित लक्षण होते हैं :—

(१) अन्तरात्मक अनुभव (Subjective Nature)।

(२) विस्तृत क्षेत्र (Wide Range)।

(३) भावात्मक गुण (Feeling Tone)।

(४) क्रियात्मक लक्षण (Conative Character)।

(५) स्थिरता (Persistence)।

(६) शारीरिक परिवर्तन (Bodily Disturbances)।

अन्तरात्मक अनुभव—संवेग मनुष्य का व्यक्तिगत तथा अन्तरात्मक अनुभव है। प्रत्येक मनुष्य अपनी मानसिक प्रवृत्तियों तथा रुचि के अनुसार विशेष अवस्था में संवेग का अनुभव करता है। क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मनोभाव, मनोवृत्तियों तथा रुचियों में विभिन्नता होती है, इसलिए उनके संवेगों में भी सर्वदा असमानता रहती है। एक ही अवस्था में तथा एक ही प्रवृत्ति के प्रति दो व्यक्तियों के संवेग न केवल भिन्न, बल्कि एक दूसरे के प्रतिकूल भी हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, ३ जून, १९४७ को ब्रिटिश

सरकार द्वारा भारत को स्वतन्त्र करने की घोषणा सुनकर जिन्ना के अनुयायियों के मन में प्रसन्नता हुई, जबकि राष्ट्रवादियों के मन में दुःख हुआ। इसी प्रकार परीक्षा का परिणाम निकलने पर एक बालक बहुत थोड़े अंक प्राप्त करके उत्तीर्ण होने पर भी प्रसन्न होता है, क्योंकि उसे अनुत्तीर्ण होने का भय था। दूसरा बालक केवल एक-दो अंक कम प्राप्त करने के कारण प्रान्त भर में द्वितीय स्थान प्राप्त करने पर भी दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार व्यापार में कीमतों के उतार-चढ़ाव एक व्यापारी के लिए सुखदायक और दूसरे के लिए दुःखप्रद होते हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि संवेग हमारा व्यक्तिगत अनुभव है।

विस्तृत क्षेत्र—संवेगों का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत होता है। शैशवकाल से लेकर जरावस्था तक संवेग मानव-जीवन में निरन्तर विद्यमान रहते हैं। यदि शिशु की क्रीड़ा में बाधा डाली जाय अथवा उसका खिलौना छीन लिया जाय, तो उसमें क्रोध उमड़ आता है। बाल्यकाल में भी क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा इत्यादि सब संवेग बालक के जीवन में उपस्थित रहते हैं। यदि एक बालक की वस्तु उससे छीनकर दूसरे बालक को देदी जाय, तो वह क्रुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार उसको किसी कार्य के करने पर बार-बार पीटा जाय, तो उसके मन में भय उत्पन्न हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में संवेगों के कारणों में परिवर्तन अवश्य हो जाता है, किन्तु संवेग ज्यों-के-त्यों रहते हैं। बुद्धि के विकास के कारण तथा विचार-शक्ति की वृद्धि के कारण मनुष्य में न केवल किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति की उपस्थिति में संवेग उत्पन्न होता है अपितु केवल विशेष विचार आने पर भी उसका अनुभव होता है। न केवल मनुष्यों में बल्कि पशुओं में भी क्रोध, भय इत्यादि जैसे संवेग उपस्थित रहते हैं। एक ही संवेग भिन्न परिस्थितियों तथा भिन्न-भिन्न घटनाओं के द्वारा उत्पन्न हो सकता है।

भावात्मक गुण—हमने संवेग की व्याख्या करते समय बताया था कि संवेग एक भावात्मक जन्मजात् प्रवृत्ति है। वास्तव में भाव अथवा राग की पराकाष्ठा का नाम संवेग है। भाव तथा संवेग में अन्तर केवल तीव्रता का है। साधारण भाव में केवल सन्तोष अथवा असन्तोष उपस्थित रहता है, किन्तु संवेग में यही सन्तोष तथा असन्तोष उग्र रूप में सुख तथा दुःख में अथवा आनन्द तथा पीड़ा में परिणत हो जाता है। क्रोधावस्था में हमारा व्यक्तित्व भावों से इतना आच्छादित हो जाता है कि उस समय हमें शुभ-अशुभ, लाभ-हानि, जय-पराजय में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, और हम भावान्ध होकर कई बार ऐसा कार्य कर बैठते हैं, जिसके लिए बाद में हमें पश्चाताप करना पड़ता है। इसी प्रकार भय, घृणा, ईर्ष्या, कामुकता इत्यादि में भी हम भावमय हो जाते हैं।

क्रियात्मक लक्षण—संवेग में मानसिक उथल-पुथल केवल भावात्मक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि वह अवश्य ही किसी-न-किसी क्रिया के रूप में प्रकट होती है। क्रोध

में हम शत्रु पर अथवा क्रोध दिलाने वाले व्यक्ति पर आक्रमण करने को दौड़ते हैं। इसी प्रकार भय के संवेग में हम भय के कारण से बचने के लिए दौड़ते हैं। श्री मैकडूगल ने मूल प्रवृत्तियों की व्याख्या करते समय प्रत्येक मूल प्रवृत्ति से सम्बन्धित संवेगों का वर्णन किया है। मूल प्रवृत्ति तथा संवेग अन्योन्याश्रित प्रवृत्तियाँ हैं। प्रायः संवेग तभी उदय होता है, जब कि किसी मूल प्रवृत्ति में बाधा डाली गई हो अथवा उसकी सहायता की गई हो। प्रत्येक संवेग के अन्तर् में कोई मूल प्रवृत्ति गुप्त रहती है। सम्भवतया एक ही संवेग, विशेषकर क्रोध, भिन्न-भिन्न मूल प्रवृत्तियों में बाधा डालने से उत्पन्न हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, शिशु की उत्सुकता में बाधा डालने से अथवा उसकी संग्रह-प्रवृत्ति में बाधा डालने से वह क्रुद्ध हो सकता है। इसी प्रकार उसकी भोजन ढूँढ़ने की प्रवृत्ति में अथवा रचना की प्रवृत्ति में बाधा डालने से भी उसे क्रोध आ सकता है। किन्तु जब मूल प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जाय अथवा उनकी सहायता की जाय, तो प्रत्येक मूल प्रवृत्ति विशेष संवेग को उत्पन्न करती है जैसे लड़ना क्रोध को, रचना रचना-भाव को और काम-वृत्ति कामुकता को उत्पन्न करती है।

स्थिरता—एक बार उत्पन्न होकर संवेग चिरकाल तक मन में निरन्तर उपस्थित रहता है। कई बार एक संवेग उत्पन्न होकर, प्रतिकूल संवेग में परिवर्तित हो जाता है। जैसे किसी के प्रति क्रोध आने पर और उसी समय उसी व्यक्ति की विवशता को देखकर हमारा क्रोध सहानुभूति में परिवर्तित हो जाता है। यदि संवेग प्रतिकूल संवेग में परिवर्तित न हो, तो वह निर्बल अवस्था में चिरकाल तक हमारे मन में उपस्थित रहता है। इस निर्बल किये हुए संवेग को भावधारा (Mood) कहते हैं। क्रोध अनुभव करने के पश्चात् हम सहसा शान्त नहीं होते, अपितु अधिक समय तक क्रोध की भावधारा में रहते हैं। इसी अवस्था में हम कई बार बिना कारण के भी क्रुद्ध हो जाते हैं। यदि हम संवेग के समय क्रोध दिलाने वाले व्यक्ति से लड़ नहीं सकते, तो प्रायः घर में आकर अपने से छोटे भाई-बहनों को पीटकर क्रोध को शान्त करते हैं। यह सब संवेग की स्थिरता तथा उसकी निरन्तर उपस्थिति के कारण होता है।

शारीरिक परिवर्तन—संवेग न केवल मानसिक प्रवाह पर सहसा आक्रमण करता है, किन्तु वह सारे शरीर में विद्युत् की तरह स्फुरण पैदा कर देता है। संवेग में रुधिर-संचार, आमाशय, स्वेद-प्रवाह, अश्रु-प्रवाह, तथा श्वास-गति इत्यादि पर अधिक प्रभाव पड़ता है। क्रोध में रुधिर-प्रवाह की गति तेज हो जाने से, शरीर में विद्युत् शक्ति उत्पन्न हो जाती है, श्वास की गति में तीव्रता आ जाती है, आँखें लाल हो जाती हैं, दाँत जुड़ जाते हैं तथा मस्तिष्क में बल पड़ जाते हैं। अनायास ही क्रोध करने वाला मुक्का तान लेता है। यह शारीरिक उथल-पुथल संवेग को अधिक सबल तथा उग्र बना देती है। भय तथा क्रोध में आमाशय की क्रिया मन्द पड़ जाती है। अतः इन संवेगों का अधिक अनुभव

करने वाला व्यक्ति मन्दाग्निग्रस्त हो जाता है। क्रोध में ध्वनि गम्भीर तथा तेज़ हो जाती है और भय में मन्थर तथा अस्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक संवेग में शारीरिक परिवर्तन प्रकट होते हैं। इन शारीरिक चिह्नों को देखकर ही प्रायः हम दूसरों के संवेग का अनुमान करते हैं।

जेम्ज़ लैंग सिद्धान्त (James-Lange Theory)—कई मनोवैज्ञानिकों ने शारीरिक चिह्नों को इतना महत्त्व दिया है कि वह संवेग सम्बन्धी शारीरिक प्रक्रिया को ही संवेग की जननी समझते हैं। जेम्ज़ लैंग के सिद्धान्त के अनुसार ऊपर लिखे हुए शारीरिक परिवर्तनों की अनुपस्थिति में किसी भी संवेग का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में केवल शारीरिक उथल-पुथल ही संवेगों के अस्तित्व का कारण है। जेम्ज़ महाशय कहते हैं कि बिना रुधिर-संचार की तीव्र गति के, बिना हाँफने के, बिना आँखों के लाल होने के, बिना मस्तिष्क पर बल पड़ने के, बिना दाँत पीसने के तथा मुक्का तान लेने के, हम किस प्रकार क्रोध का अनुभव कर सकते हैं? इस सिद्धान्त के अनुसार हम पहले पीटते हैं और फिर क्रुद्ध होते हैं; पहले भागते हैं और फिर भय का अनुभव करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संवेग के अनुभव करने में तथा उसको उग्र बनाने में शारीरिक परिवर्तन तथा उथल-पुथल अनिवार्य है। यों तो प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया किसी-न किसी शारीरिक प्रक्रिया से सम्बन्धित रहती है और कई बार शारीरिक प्रक्रिया मानसिक प्रक्रिया का कारण भी बनती है। हम देखते हैं कि रुग्णावस्था में—विशेषकर उग्र ज्वर में—प्रायः हमारा स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और हम छोटी-छोटी बात पर भी क्रुद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम भूखे होते हैं, तो हर समय क्रुद्ध होने के लिए उद्यत रहते हैं। संस्कृत में किसी विद्वान् ने कहा है—

'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।'

अर्थात् भूखा व्यक्ति कौनसा पाप करने के लिए उद्यत नहीं रहता? जरावस्था में भी प्रायः लोगों का स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाता है और वे शीघ्र ही क्रोध-ग्रस्त हो जाते हैं। औषधि-शास्त्र के विद्वानों ने प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया है कि हमारे शरीर में विशेष लवणों के न्यून-अधिक होने से अथवा विशेष औषधि के सेवन से व्यक्ति के शरीर में वैसी ही उथल-पुथल हो सकती है, जैसी कि वह संवेग की उपस्थिति में अनुभव करता है। ये सब बातें जेम्ज़ लैंग सिद्धान्त के पक्ष में हैं।

आलोचना—किन्तु अपने वास्तविक जीवन में हम संवेगों को जेम्ज़ लैंग सिद्धान्त के प्रतिकूल ही अनुभव करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी जब हम शारीरिक अभिनय के द्वारा किसी संवेग का अनुकरण कर रहे हों, तो हम वास्तव में भी उसी संवेग का अनुकरण कर लेते हैं। कई बार नाटक में अभिनय करने वाले अभिनेता वास्तव में क्रुद्ध होकर सचमुच लड़ने भी लग जाते हैं। किन्तु हमारे साधारण जीवन में ऐसी घटनाएँ

कम होती हैं। वास्तव में संवेग परिस्थिति पर निर्भर होता है। जब हम विशेष परिस्थिति का निरीक्षण करते हैं, तो हमारे मन में विचार उत्पन्न होता है; विचारधारा के प्रवाह के साथ-साथ भाव उत्पन्न होते हैं और सहसा ही शारीरिक परिवर्तन होते हैं। यदि परिस्थिति पर संवेग निर्भर न होते और उनमें विचारधारा का हाथ न होता, तो हम पिंजरे में बन्द किये हुए सिंह को देखकर भी भयभीत हो जाते। यही कारण है कि हमारा व्यवहार पिंजरे में बन्द सिंह तथा जंगल में स्वतन्त्र सिंह के प्रति भिन्न होता है। एक के प्रति तो हम सहानुभूति दर्शाते हैं और कुछ खाने के लिए भी देने को उद्यत हो जाते हैं, किन्तु दूसरे के प्रति हम भय दर्शाते हैं और उसे पीठ दिखाते हैं। यदि प्रोफेसर जेम्ज़ को पहले पिंजरे में बन्द शेर के सामने उपस्थित किया जाय और बाद में उन्हें जंगल में स्वतन्त्र शेर के सामने छोड़ दिया जाय, तो वह भी ऐसा ही व्यवहार करेंगे। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगों से भी यह सिद्ध किया गया है कि शारीरिक उथल-पुथल संवेग का कारण नहीं है, चाहे वह संवेग से सम्बद्ध अनिवार्य उपाधि अवश्य है। एक बिल्ली पर प्रयोग करते समय उसके वे सब स्नायु (Nerves) काट दिये गये थे, जो संवेग से सम्बन्धित शारीरिक उथल-पुथल के कारण थे। किन्तु इसके पश्चात् भी बिल्ली में संवेग के चिह्न अवश्य थे। अतः स्पष्ट है कि बहुत सी शारीरिक परिस्थितियों की अनुपस्थिति में भी संवेग का लोप नहीं होता। औषधि-विज्ञान के प्रयोग भी इस बात को सिद्ध करते हैं। विशेष औषधि सेवन करने पर देखा गया है कि संवेग सम्बन्धी शारीरिक परिवर्तन तो अवश्य प्रकट होते हैं, किन्तु संवेग नहीं होता। अतः इन्हीं कारणों से जेम्ज़ लैंग के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते।

शिक्षा के दृष्टिकोण से, शिक्षक के लिए संवेग के सब लक्षणों को जानना आवश्यक है, ताकि वह शिशु के संवेगों को जानकर उनका सुधार करने में समर्थ हो। विशेषकर संवेग सम्बन्धी शारीरिक परिवर्तनों की जानकारी आवश्यक है, क्योंकि शारीरिक उथल-पुथल का निरीक्षण करके, शिक्षक बालक की मानसिक अवस्था का अनुमान कर सकता है। जहाँ तक जेम्ज़ लैंग के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, शिक्षक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह बालक को बुरे संवेगों का अनुकरण ही न करने दे, क्योंकि अनुकरण तथा शारीरिक उथल-पुथल के द्वारा संवेग के प्रकट होने की सम्भावना हो सकती है।

स्थायी भाव (Sentiment)—जब किसी व्यक्ति, विषय और विचार के प्रति हमारी मूल प्रवृत्तियाँ तथा संवेग बार-बार उमड़ते हैं, तो वे उस विशेष व्यक्ति, विषय तथा विचार में केन्द्रित हो जाते हैं। इस प्रकार प्रवृत्तियों तथा संवेगों के केन्द्रीकरण (Centralization) को स्थायी भाव (Sentiment) कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, मित्रता किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति एक स्थायी भाव है। जब कभी हमारा मित्र दुरवस्था में हो अथवा शोकातुर हो, तो हम भी शोक का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार उस मित्र के

अभ्युदय में हम प्रसन्न होते हैं। अतः उसके भाग्य के परिवर्तन के साथ-साथ हम भिन्न प्रवृत्तियों का तथा संवेगों का अनुभव करते हैं। स्थायी भाव में हमारे सब भाव, सब संवेग, सब मूल प्रवृत्तियाँ एवं विचार एक ही लक्ष्य में केन्द्रित हो जाते हैं। स्थायी भाव मूल प्रवृत्ति तथा संवेग की अपेक्षा ऊँचे स्तर पर है। अन्य पशु भी मूल प्रवृत्तियों का अनुभव करते हैं, किन्तु उनकी मूल प्रवृत्तियाँ तथा संवेग केन्द्रित नहीं होते। एक कुत्ते में भी मनुष्य की तरह काम-वृत्ति उपस्थित रहती है, किन्तु उसमें प्रेम का स्थायी भाव नहीं हो सकता। क्योंकि स्थायी भाव में विचार तथा निर्णय का भी हाथ रहता है, इसलिए यह विशेषतया मानवीय अनुभव है। शिशु में स्थायी भाव देरी से निर्मित होते हैं, किन्तु उनका श्रीगणेश आदिकाल से हो जाता है। यह सम्भव है कि शिशु अनुचित स्थायी भाव ग्रहण कर ले, इसलिए शिक्षक तथा माता-पिता को सावधान रहना चाहिए तथा उनको चाहिए कि शिशुओं की मूल प्रवृत्तियों तथा संवेगों का इस प्रकार परिवर्तन, मार्गान्तरीकरण तथा शोध करें कि उनमें स्वस्थ स्थायी भावों का निर्माण हो। मनोवैज्ञानिकों ने निम्न चार प्रकार के मुख्य स्थायी भाव बतलाये हैं :—

(१) बौद्धिक अथवा प्रज्ञात्मक स्थायी भाव (Intellectual Sentiment)।

(२) नैतिक स्थायी भाव अथवा सामाजिक स्थायी भाव (Moral or Social Sentiment)।

(३) धार्मिक स्थायी भाव (Religious Sentiment)।

(४) सौन्दर्यात्मक स्थायी भाव (Aesthetic Sentiment)।

बौद्धिक अथवा प्रज्ञात्मक स्थायी भाव—बौद्धिक अथवा प्रज्ञात्मक स्थायी भाव में हमारे भाव, संवेग, प्रवृत्तियाँ तथा विचार इत्यादि सत्य सम्बन्धी विषय के प्रति केन्द्रित होते हैं। इस स्थायी भाव में हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अमुक विषय सत्य है, और अमुक असत्य है। हम सम्भवतया सत्य का पक्ष लेते हैं तथा असत्य का विरोध करते हैं। इसी पक्ष तथा विरोध में हमारी सब मनोवृत्तियाँ जाग्रत होती हैं।

नैतिक अथवा सामाजिक स्थायी भाव—नैतिक अथवा सामाजिक स्थायी भाव हमारे भाव, संवेग, प्रवृत्तियाँ तथा विचार इत्यादि नैतिकता अथवा चरित्र सम्बन्धी विषय के प्रति केन्द्रित होते हैं। इस स्थायी भाव में हम उचित तथा अनुचित व्यवहार के प्रति निर्णय करते हैं। जो व्यवहार हमारे नैतिक अथवा सामाजिक जीवन के लिए घातक होता है, उसे अनुचित माना जाता है और जो समाज तथा नैतिकता के अनुकूल होता है, उसे उचित माना जाता है।

धार्मिक स्थायी भाव—इस स्थायी भाव में हमारे भाव, संवेग, प्रवृत्तियाँ तथा विचार इत्यादि धर्म तथा ईश्वर सम्बन्धी विषय के प्रति केन्द्रित होते हैं। इस स्थायी भाव में हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अमुक व्यवहार पुण्य और अमुक पाप है।

हमारा अन्तःकरण हमें धर्म की ओर आकर्षित करता है, तथा अधर्म के विरोध के लिए प्रेरित करता है। संकुचित दृष्टिकोण में धार्मिक स्थायी भाव का दुरुपयोग भी होता है। हमारे देश का बँटवारा भी एक सम्प्रदाय के तथाकथित नेता द्वारा धार्मिक स्थायी भाव को संकुचित दृष्टिकोण से उभारने के कारण हुआ।

सौन्दर्यात्मक स्थायी भाव—सौन्दर्यात्मक स्थायी भाव में हमारे भाव, संवेग, प्रवृत्तियाँ तथा विचार इत्यादि सौन्दर्य सम्बन्धी विषय के प्रति केन्द्रित होते हैं। इस सौन्दर्य में हम सुन्दरता के आदर्श को सामने रखकर निर्णय करते हैं। जो वस्तु हमारे मन को आकर्षित करती है, वह सुन्दर होती है और जिसके देखने से हमारे मन में विकर्षण हो, वह असुन्दर होती है। हम स्वभावतया सुन्दरता को अपनाते हैं तथा असुन्दर वस्तुओं का परित्याग करते हैं।

इन स्थायी भावों का हमारे जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। ये ही स्थायी भाव मनुष्य की वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा कलात्मक प्रगति का आधार हैं। मनुष्य की वैज्ञानिक उन्नति और आविष्कार बौद्धिक स्थायी भाव की देन हैं। इ ी प्रकार तर्क, न्याय, दर्शन इत्यादि भी इस स्थायी भाव का ही विस्तृत रूप हैं। हमारी नैतिक तथा सामाजिक संस्थाएँ, समाज-सुधार के प्रयत्न, नैतिक शास्त्र, शिष्टाचार इत्यादि नैतिक स्थायी भाव का प्रसाद हैं। हमारी धर्म-संस्थाएँ—मन्दिर, गिर्जे, गुरुद्वारे, मस्जिदें इत्यादि—हमारे धर्म-संघ, धर्म-प्रचारक एवं ऋषि-मुनि, तपस्वी, महात्मा इत्यादि, जिनका आज भारतवर्ष को गौरव है, धार्मिक स्थायी भाव के कारण ही हुए हैं; सौन्दर्यात्मक स्थायी भाव के आधार पर मनुष्य ने संगीत, कविता, चित्रकला इत्यादि का निर्माण किया है। मनुष्य की वेश-भूषा में आज सौन्दर्य की प्रधानता है। उसके रहने-सहने में, भवनों में और दूकानों पर भी सुन्दरता का राज्य है। प्रत्येक स्थायी भाव का हमारे जीवन में अपना-अपना स्थान है। स्वस्थ स्थायी भावों का निर्माण शैशवकाल में ही हो जाना बालक के भावी जीवन के विकास में सहायक होता है। अतः शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे चरित्र-निर्माण के लिए बालकों के संवेग तथा मूल प्रवृत्तियों को उच्च आदर्शों पर केन्द्रित कराने का प्रयत्न करें। संवेग स्थायी भाव के निर्माण में बड़ा महत्त्व रखते हैं। इसलिए बालकों के संवेगों को सुधारना बहुत आवश्यक है।

स्थायी भावों का महत्त्व—संवेग मनोजीवन के उग्र अनुभव हैं और कई बार वे अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होते हैं। ऐसे असंख्य उदाहरण हैं कि जिनमें क्रोध अथवा भय प्राणियों की मृत्यु का कारण बने हैं। श्री ट्राईन ने बताया है कि एक शिशु के रुधिर में विष फैल जाने से अपनी माता का दूध पीते समय मृत्यु इसलिए हुई, क्योंकि वह (माता) सहसा क्रोध के संवेग में ग्रस्त हो गई थी। क्रोध तथा भय स्नायु-संस्थान तथा आमाशय पर बहुत बुरा प्रभाव डालते हैं, जिससे शारीरिक तथा

मानसिक विकास को ठेस पहुँचती है। यही कारण है कि भारत के ऋषि-मुनि अपने शरीर तथा मन को स्वस्थ अवस्था में रखने के लिए संवेगों के संयम पर अधिक जोर दिया करते थे। केवल इतना ही नहीं, अपितु उनके दृष्टिकोण से मानसिक सामंजस्य तथा संयम के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे, स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

अर्थात् जिस मनुष्य का स्वभाव अथवा चरित्र इतना ही गम्भीर तथा स्थिर है, जितना कि उस समुद्र का होता है, जो अनेक नदियों को अपने में ग्रहण करता हुआ भी स्थिर रहता है और जो कामनाओं तथा संवेगों के प्रविष्ट होने पर भी समुद्र की भाँति स्थिर रहता है; वही परम शान्ति को प्राप्त करता है। इसके विरुद्ध जो व्यक्ति इन प्रवृत्तियों में लीन हो जाता है, वह शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

बालकों में स्थायी भाव का निर्माण—बालकों के चरित्र का निर्माण करते हुए, शिक्षकों को चाहिए कि वह उनके संवेगों को संयम के द्वारा सुधारने का पाठ पढ़ावें और उनमें स्वस्थ स्थायी भावों का संचार करें। किन्तु शिक्षक को चाहिए कि वह कदापि बालकों के संवेगों का दमन न करे। यदि किसी शिशु में संवेग का सदा के लिए दमन कर दिया जाय तो वह सामान्य रूप से अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। संवेगों का सदुपयोग भी हो सकता है। क्रोध का संवेग भी सुधारा जा सकता है। बालक को अत्याचार तथा अन्याय के विरुद्ध क्रुद्ध होने की शिक्षा देनी चाहिए। गीता में अर्जुन को अपने पूज्य गुरुजनों तथा पूर्वजों के विरुद्ध युद्ध करने की शिक्षा दी गई है, जबकि वे लोग अन्याय तथा अधर्म का पक्ष लेते हैं।

इसके अतिरिक्त बालकों की रुचि कला, संगीत, चित्रकला, नाटक, वाद-विवाद तथा भाषण-प्रतियोगिता इत्यादि में लगानी चाहिए। इन साधनों से बालकों के संवेगों का शोध हो जाता है। छात्रों को अधिक उपयोगी कार्य में व्यस्त करके भी हानिकारक संवेगों से बचाया जा सकता है, क्योंकि कार्य में व्यस्त होने से उनको संवेगों से ग्रस्त होने का अवसर ही नहीं मिलता।

अभ्यास

१. सवेग किसे कहते हैं और उसका प्रादुर्भाव कैसे होता है ?
२. संवेगों का स्वरूप बतलाते हुए उनके भिन्न लक्षणों की पूरी-पूरी व्याख्या करो।
३. संवेगों के प्रति जेम्ज लैंग सिद्धान्त का क्या अर्थ है ? क्या जेम्ज लैंग सिद्धान्त शत-प्रतिशत ठीक है ?
४. संवेगों का व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? क्या प्रत्येक व्यक्ति को

संवेग-रहित होना चाहिए ?

५. शिशु के संवेगों को किस सीमा तक परिवर्तित करना चाहिए और ऐसा करने के लिए कौन-कौनसे उपाय काम में लाये जा सकते हैं ?

६. स्थायी भाव का क्या अर्थ है ? उदाहरण देकर पूर्ण व्याख्या करो।

७. स्थायी भावों का निर्माण किस प्रकार होता है और उनके निर्माण का क्या आधार होता है ?

८. बौद्धिक स्थायी भाव, सामाजिक अथवा नैतिक स्थायी भाव, धार्मिक स्थायी भाव तथा सौन्दर्यात्मक स्थायी भाव की पूर्ण व्याख्या करो।

९. स्थायी भावों का शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या महत्त्व है ?

१०. शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से, शिशुओं में आदिकाल से ही स्थायी भावों का निर्माण क्यों करना चाहिए ?

दसवाँ अध्याय

आदत तथा चरित्र-निर्माण (Habit and Character)

आदत का आधार—समस्त प्रकृति में, जड़ वस्तु से लेकर चेतन तक, ग्रहणशीलता का गुण (Plasticity) उपस्थित है। ग्रहणशीलता का साधारण अर्थ झुकाव है। यह इस प्रकार का झुकाव होता है कि इससे प्रभावित होने वाली वस्तु इतनी निर्बल नहीं होती कि वह सहसा पूर्णतया आत्मसमर्पण कर दे। यही ग्रहणशीलता, प्रकृति के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन कराती है। भौतिक पदार्थों में ग्रहणशीलता होती है। उदाहरणस्वरूप, जब हम नया ताला खोलते हैं, तो वह कठोर होता है और कठिनता से खुलता है; किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् ग्रहणशीलता के कारण वह नरम हो जाता है और सुगमता से खुल जाता है। हम प्रायः देखते हैं कि नदी के घाट पर मिट्टी के घड़ों को रखने से पत्थर जैसे कठोर पदार्थ में भी गड्ढे पड़ जाते हैं। यह सब भौतिक पदार्थों में ग्रहणशीलता होने का प्रमाण है। इसी कारण शारीरिक जगत् में भी ग्रहणशीलता उपस्थित रहती है। साधारणतया हमारी मांसपेशियाँ भारी बोझ नहीं उठा सकतीं; किन्तु यदि हम कुछ बोझ रोज उठाने का अभ्यास करें तो वही मांसपेशियाँ सुगमता से मनों तक का बोझ उठाने के योग्य हो जाती हैं। इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी ग्रहणशीलता, अभ्यास के द्वारा कठिन-से-कठिन मानसिक कार्य को सहज तथा सुगम बना देती है। जिस मनोक्रिया में शुरू में इच्छा, अवधान तथा प्रयास का प्रयोग करना पड़ता है, अभ्यास के द्वारा वह स्वच्छन्दतापूर्वक बिना अवधान के ही की जाती है।

आदत का रूप—आदत हमारी अर्जित प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा हम एक क्रिया को स्वयं ही सुगमता से तथा सर्वदा एक ही रीति से करते हैं। उदाहरणस्वरूप, हमारी बोलने की रीति, हमारी वेश-भूषा, हमारा लेख, हमारे खाने-पीने की विधि इत्यादि सब आदतें हैं। ये आदतें स्वच्छन्द, समान तथा यन्त्रवत् होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो कार्य हम आदत के वशीभूत होकर करते हैं, वह बिना प्रयास और इच्छा के ही हो जाता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इन क्रियाओं के करने में शुरू से ही प्रयास और अवधान की आवश्यकता नहीं होती। आदत वास्तव में, हमारे द्वारा बार-बार की गई पूर्वकल्पित क्रिया की उपज है। अभ्यास के कारण बार-बार की गई पूर्व कल्पित क्रिया सुगम, प्रयास-रहित तथा यन्त्रवत् बन जाती है।

प्रत्येक आदत की क्रिया में निम्नलिखित लक्षण होते हैं :—

(१) अवधान से निवृत्ति।

(२) समानता।

(३) स्पष्टता।
(४) अपरिवर्तनशीलता।
(५) सुगमता।

(१) जो कार्य आदत के द्वारा किया जाय, वह बिना अवधान के एवं बिना चेतना के ही किया जाता है। यदि आदत के द्वारा किये गये कार्य की ओर अवधान दिया जाय, तो उसमें बाधा पड़ जाती है। जब हम कंघी करते समय कई बार अवधान देते हैं, तो क्रिया में बाधा पड़ जाती है और वह सुगमता से नहीं हो पाता। इसके विरुद्ध जब हम कोई कार्य केवल आदत के आधार पर करें और अवधान का प्रयोग न करें, तो वह स्वच्छन्दतापूर्वक तथा यन्त्रवत्, बिना किसी रुकावट के, हो जाता है।

(२) आदत द्वारा किये गये कार्य सर्वदा समान रीति से किये जाते हैं। हम सर्वदा एक ही रीति से वस्त्र पहनते हैं; एक ही रीति से खाना खाते हैं और एक ही रीति से बोलते हैं।

(३) आदत के द्वारा की गई क्रिया सर्वदा स्पष्ट होती है। आदत जितनी ही गम्भीर हो, उसमें हमारी क्रिया उतनी ही अधिक स्पष्ट और शीघ्र होती है। आदत की सब क्रियाएँ नियत समय में, नियत रूप में होती हैं।

(४) इसमें कोई सन्देह नहीं कि आदत जितनी पुरानी हो, उतनी ही दृढ़ होती है और टूट नहीं सकती। उसका कारण यह है कि बार-बार किये जाने के द्वारा आदत विशद तथा प्रवृद्ध हो जाती है और मानसिक तथा शारीरिक प्रवृत्तियाँ बनाती है। ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को बार-बार आदत की क्रिया करने के लिए उद्यत करती रहती हैं। जिस व्यक्ति की आदत जुआ खेलने की हो, वह कंगाल होने पर भी उस आदत को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार एक शराबी प्रातः शराब न पीने का निश्चय करने के पश्चात् भी संध्या को पुनः शराब पीने के लिए विवश हो जाता है।

(५) आदत के द्वारा की गई क्रियाएँ सुगमता से होती हैं। आदत जितनी चिरकालीन होगी उसके करने में उतनी ही सुगमता होगी। जिस व्यक्ति की आदत प्रातः-काल उठने की हो, वह ऐसा करने में सुगमता का अनुभव करता है। इसके विरुद्ध यदि देरी से उठने वाले मनुष्य को ऐसा करना पड़े, तो उसे कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

आदत का निर्माण—आदत का निर्माण एक क्रिया को पूर्व कल्पित अवधान द्वारा बार-बार करने से होता है। जिस विषय के प्रति हम विशेष प्रकार की आदत का निर्माण करना चाहते हैं, उस विषय की उपस्थिति आदत के निर्माण के लिए आवश्यक है; किन्तु ऐसा करने के लिए मनुष्य को दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए। जो कार्य दृढ़ निश्चय से किया जाय, उसकी आदत का निर्माण शीघ्र होता है। मानलो कि एक व्यक्ति साइकिल चलाने की आदत का निर्माण करना चाहता है। सर्वप्रथम, उसे ऐसा करने के

लिए दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् साइकिल की उपस्थिति भी आवश्यक है। विषय के उपस्थित होने पर तुरन्त ही अपने संकल्प को क्रिया में परिवर्तित कर देना चाहिए। साइकिल सीखते समय मनुष्य को बार-बार यत्न करना पड़ता है। ऐसे यत्नों में कई बार असफलता प्राप्त होती है। सीखने वाला कई बार गिर पड़ता है। किन्तु ऐसा करते हुए सहसा उसे सफलता प्राप्त होती है। वह काफ़ी दूर तक बिना गिरे साइकिल चला लेता है। इसके पश्चात् वह धीरे-धीरे उन यत्नों को ग्रहण करता है जो कि उसको सफलतापूर्वक साइकिल चलाने में सहायता देते हैं, और उन क्रियाओं से निवृत्ति प्राप्त करता है जो कि निरर्थक हैं। वह अनुभव करता है कि साइकिल चलाते समय दृष्टि को सामने रखना चाहिए और हैन्डल को ज़ोर से नहीं पकड़ना चाहिए। इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करने के पश्चात् आदत का निर्माण हो जाता है। आदत को सुदृढ़ बनाने के लिए निरन्तर अभ्यास करना और इसी दौरान में कभी भी अभ्यास को अवकाश न देना आवश्यक होता है। यह प्रयास केवल आदत का निर्माण करते समय करना पड़ता है; किन्तु जब आदत निर्मित हो जाती है, तो बिना प्रयास के ही मनुष्य सफलतापूर्वक क्रिया करता है।

आदत के गुण और दोष—आदतें हमारे मानसिक विकास में महत्त्व रखती हैं। इनके कारण हमारी शक्ति तथा समय की बचत होती है। यदि हम खाने-पीने, कपड़े पहनने, लिखने-पढ़ने इत्यादि जैसी क्रियाओं को आदत के आधार पर न कर सकते, यदि हमें प्रतिदिन इन क्रियाओं को करने में उतना ही प्रयास करना पड़ता, जितना कि हमें पहली बार करना पड़ता है, तो हम संसार में कुछ कार्य न कर पाते और सारा दिन इन छोटी-छोटी क्रियाओं में बिता देते। अतः आदत हमारी मानसिक उन्नति का साधन है। दूसरे, आदत के द्वारा किया हुआ कार्य सरलता तथा सुगमता से होता है। जो छात्र प्रतिदिन दस बजे से पहले नहा-धोकर ठीक समय पर तैयार हो जाने की आदत डाल लेते हैं, यदि उनको पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् नौकरी पर दस बजे पहुँचना पड़े, तो पहली आदत के कारण उन्हें ऐसा करने में सुगमता रहती है। इसी प्रकार जो छात्र पाठ को रटने की आदत डाल लेता है, वह प्रत्येक विषय को सुगमता से स्मरण कर लेता है और समय पड़ने पर उसका प्रत्याह्वान कर सकता है। अतः आदत क्रिया को सुगम बनाती है।

किन्तु जहाँ आदत एक प्रकार की क्रिया को सुगम बनाती है, वहाँ वह अन्य प्रकार की क्रियाओं में बाधक भी हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जिस व्यक्ति को एक रीति से कार्य करने की आदत पड़ चुकी हो, वह फिर कदापि किसी दूसरी रीति से उस कार्य को नहीं कर सकता। उदाहरणस्वरूप, हम प्रतिदिन पाठशाला पहुँचने के लिए तो उद्यत हो जाते हैं और उसी कारण किसी अन्य स्थान पर ठीक ग्यारह बजे पहुँच

जाते हैं किन्तु हम यह देखते हैं कि रविवार के दिन जब हमें कहीं दस बजे पहुँचना हो तो हम ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार जिस छात्र को, परीक्षा में रटे हुए प्रश्नों का उत्तर देने की आदत हो, वह बिना रटे हुए साधारण-से-साधारण प्रश्नों का उत्तर भी अपनी बुद्धि से नहीं दे सकता। जिस व्यक्ति को प्रातः सैर करने की आदत पड़ी हुई हो, वह एक दिन के लिए भी प्रातः को सैर के बजाय कोई और कार्य नहीं कर सकता। जब मनुष्य एक आदत में जकड़ जाता है, तो उससे छूटना कठिन हो जाता है। जहाँ आदत एक कार्य में सहायक बनती है, वहाँ वह अन्य कार्यों में बाधक भी होती है। इसलिए कहा जाता है कि आदतें अच्छी सेवक हैं, किन्तु वे बुरी स्वामी भी हैं (Habits are good servants, but bad masters)।

बुरी आदत से निवृत्ति—शिशु के व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वस्थ प्रवृत्तियों का निर्माण तथा अस्वस्थ प्रवृत्तियों से निवृत्ति होना बहुत आवश्यक है। जो आदतें शैशवकाल में दृढ़ हो जाती हैं, उन्हीं के आधार पर ही शिशु के चरित्र तथा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अच्छी आदतें मनुष्य को जीवन में सफल बनाती हैं तथा बुरी आदतें उसकी असफलता का कारण बनती हैं। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह शिशु को सुधारे और प्रारम्भ से ही उसको बुरी आदतों से निवृत्ति दिलाए। किन्तु प्रश्न यह होता है कि बुरी आदत से कैसे निवृत्ति दिलायी जाय? साधारणतया जो नियम एक आदत के निर्माण करने में सहायक होते हैं, उन्हीं नियमों पर प्रतिकूल रूप में चलने से बुरी आदतों से निवृत्ति हो सकती है। निम्नलिखित नियमों पर चलने से हम शिशुओं की बुरी आदतों को छुड़ा सकते हैं :—

१. **दृढ़ निश्चय** (Strong Determination)—जिस प्रकार एक आदत के निर्माण के लिए दृढ़ निश्चय का होना आवश्यक है, उसी प्रकार चिर-सहचरी आदत को छोड़ने के लिए भी दृढ़ संकल्प का होना अनिवार्य है। यदि शिशु बुरी आदत को छोड़ने के लिए उद्यत न हो, तो उसको उस आदत के दोष बताकर तथा उसके छोड़ने के लाभ दर्शाकर उस आदत के छोड़ने की प्रतिज्ञा करने के लिए मना लेना चाहिए। यदि कोई बालक बहुत देरी से जागने की आदत को छोड़ना चाहता है, तो शिक्षक को चाहिए कि वह उसको देरी से जागने की हानियाँ बताय। उसे समझाय कि देरी से जागने वाले का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। वह सारे दिन सुस्त रहता है और कोई भी काम सफलता से नहीं कर पाता, जबकि प्रातःकाल जागने वाला व्यक्ति स्वस्थ रहता है, उसमें स्फूर्ति उत्पन्न होती है और वह सारे दिन प्रसन्न रहता है। इस प्रकार समझाने के पश्चात् बालक आदत को छोड़ने के लिए दृढ़ संकल्प करने पर उद्यत हो जाता है।

२. **दृढ़ निश्चय प्रकटीकरण** (Making the determination public)—बुरी आदत को छुड़ाने के लिए यह अधिक लाभदायक होगा कि ऐसा दृढ़

संकल्प केवल मन में ही नहीं किन्तु अन्य लोगों की उपस्थिति में प्रकट किया जाय। जब बालक इस प्रकार अपनी बुरी आदत को त्याग देने के निश्चय को प्रकट करता है, तो भविष्य में यदि उसके मन में कभी निर्बलता आय तो उस समय वह सोचता है कि यदि मैं फिर बुरी आदत में पड़ गया, तो मेरे माता-पिता, सम्बन्धी और वे लोग क्या कहेंगे जिनके सामने मैंने इस आदत को छोड़ने की प्रतिज्ञा की थी? अतः आदत को छोड़ने की प्रतिज्ञा एकान्त में करने की अपेक्षा अन्य लोगों के सामने करनी चाहिए। इस उपाय का बुरी आदत को छोड़ने वाले व्यक्ति के मन पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

३. अच्छी आदत की प्रतिस्थापना (Substitution by forming good habit)—आदत हमारी प्रकृति तथा हमारे व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है। जब भी आदत की क्रिया न की जाय, हमें चैन नहीं आता और हम उसके अभाव का अनुभव करते रहते हैं। अतः छोड़ी हुई आदत के खाली स्थान की पूर्ति करना बहुत आवश्यक है। यदि उस आदत के स्थान पर किसी अच्छी आदत का निर्माण न किया जाय, तो अन्य बुरी आदत के पड़ जाने की संभावना रहती है। इसलिए यदि एक व्यक्ति एक बुरी आदत को छोड़ता है, तो तुरन्त ही उसके स्थान पर अच्छी आदत की स्थापना कर देनी चाहिए। जब-जब भी उसके मन में उस बुरी आदत को दोहराने का विचार आय, उसी समय अच्छी आदत को दोहराने का अवलम्बन करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति शराब पीना छोड़ना चाहे, तो वह उसके स्थान पर द्राक्षासव अथवा फलों का रस पीने की आदत डाल सकता है। इसी प्रकार सिगरेट के स्थान पर इलायची खाने का प्रतिस्थापन किया जा सकता है। मुँह से नाखूनों को काटने की आदत के स्थान पर, उनकी सुन्दरता बनाये रखने की आदत डाली जा सकती है इत्यादि।

४. विलयन (Inhibition)—एक बार जब बुरी आदत को छुड़ा दिया जाय, तो बालक को ऐसे वातावरण में नहीं रखना चाहिए कि जिसमें उस आदत को फिर से उत्तेजना हो। यदि उसे फिर एक बार भी उस आदत की पुनरावृत्ति का अवसर दिया गया, तो वह बुरी आदत कदापि नहीं छुड़ाई जा सकती। यदि एक व्यक्ति ने सिगरेट पीना छोड़ दिया हो, तो उसे सिगरेट पीने वाली संगति से बचना चाहिए। इसी प्रकार मदिरा पीने की आदत से निवृत्ति के पश्चात् शराबियों की संगति का त्याग करना आवश्यक है।

आदत का शिक्षा में महत्त्व—आदत हमारे जीवन में विशेष महत्त्व रखती है। जो व्यक्ति अपने जीवन के सब कार्य, बिना किसी नियम के और बिखरे हुए रूप में करता है, वह किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति का रहने-सहने का तरीका नियमित नहीं है; जो व्यक्ति ठीक समय पर नहीं जागता और न ही ठीक समय पर नहाता, कपड़े पहनता और खाना खाता है; जिस व्यक्ति का अन्य लोगों से

मिलने तथा घरेलू कार्य करने और आजीविका के प्रति प्रयास करने का समय निश्चित नहीं है; दूसरे शब्दों में जिन व्यक्ति के विचार, भावनाएँ और आचार स्थिर नहीं, वह अपना जीवन कभी आनन्दमय नहीं बना सकता। शिक्षा का उद्देश्य बालकों को जीवन में सफलता प्राप्त करने योग्य बनाना है। इसलिए शिक्षक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह बालकों में अच्छी आदतों का निर्माण कराय ताकि उनकी सब क्रिया नियमित, स्थिर और सर्वदा समान हो। शैशवावस्था में जिन आदतों का निर्माण हो जाय वे स्थिर हो जाती हैं। इसी समय में शिशु जिन आदतों को ग्रहण कर लेता है, वे उसका स्थायी चरित्र बन जाती हैं। शिक्षा के दृष्टिकोण से आदतों का बहुत भारी महत्त्व है। क्योंकि शिशु में ग्रहणशीलता और कोमलता चरम सीमा पर होती है इसलिए शिक्षक उसमें ऐसी आदतों का निर्माण कर सकता है, जो कि भविष्य में उसके जीवन को सुखमय बना सकती हैं और उसके चरित्र को ऊँचा उठा सकती हैं। शिशु के विचारों के प्रति आदतों का निर्माण किशोरावस्था से कुछ पहले किया जा सकता है। इसी अवस्था में जिस दृष्टि-कोण से बालक को विचार करने की आदत पड़ जायगी, वही दृष्टिकोण उसके जीवन में प्रधान रहेगा। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करने की आदत डाले। विशेषकर भारतवर्ष के बालकों में इस प्रकार के दृष्टिकोण से विचार करने की आदत डालना अति आवश्यक है। यदि शिक्षा में इस प्रकार के सुधार, भारत की स्वतन्त्रता से तीस वर्ष पहले हुए होते, तो देश में कदापि संकुचितता, साम्प्रदायिकता तथा प्रान्तीयता के भाव न होते और ना ही देश के बँटवारे की नौबत आती। इसी प्रकार शिशु के संवेगों और उसकी भावनाओं को केन्द्रित करके, भावात्मक आदतों का निर्माण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, उसके संवेगों को स्थायी भावों में परिवर्तित किया जा सकता है। ना ही केवल भावनाओं को अपितु शिशु की क्रियाओं को भी नियमित, निश्चित और स्थिर बनाने के लिए क्रियात्मक आदतों का निर्माण भी प्रारम्भ में ही हो जाना चाहिए। शिशु की विचारात्मक आदतों (Cognitive habits), भावात्मक आदतों (Affective habits) तथा क्रियात्मक आदतों (Conative habits) की स्थापना करना शिक्षक का मुख्य कर्त्तव्य है, क्योंकि इन्हीं आदतों द्वारा शिशु के चरित्र का गठन होता है।

आदत का चरित्र से सम्बन्ध—आदत का चरित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक ऐरिस्टाटल ने कहा था 'Virtue is a kind of habit'—अर्थात् गुण एक प्रकार की आदत है। उसके मतानुसार जो व्यक्ति आदत के द्वारा ही अच्छे काम करता है, उसी का चरित्र अच्छा है। वास्तव में आदतें चरित्र का आधार हैं। अच्छी आदतें सु-चरित्र का निर्माण करती हैं तथा बुरी आदतें कु-चरित्र बनाती हैं। चरित्र स्थायी मनोवृत्ति है, जो निश्चित तथा स्थिर आदतों के आधार पर निर्मित होती है।

दूसरे शब्दों में, विचारात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक आदतों के संगठन द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। इसलिए शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह शिशु के आत्म-गौरव के स्थायी भाव के निर्माण का विशेष ध्यान रखे, क्योंकि यह स्थायी भाव शिशु की भावात्मक आदतों द्वारा निर्मित होता है।

चरित्र के लक्षण—चरित्र को आत्म-गौरव स्थायी भाव की प्रधानता में, मूल प्रवृत्तियों तथा स्थायी भावों का गठन कहा जा सकता है। चरित्र का निर्माण, शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। यदि मूल प्रवृत्तियों तथा स्थायी भावों का सम्बन्ध दृढ़ हो, तो चरित्र भी दृढ़ होता है। इसके अतिरिक्त आत्म-गौरव के स्थायी भाव की प्रधानता में मूल प्रवृत्तियों तथा स्थायी भावों की संख्या जितनी अधिक होगी, उतना ही चरित्र अधिक दृढ़ निश्चित तथा स्थिर होगा। इसके विरुद्ध यदि मूल प्रवृत्तियों तथा स्थायी भावों का परस्पर सम्बन्ध अस्थिर तथा अनिश्चित हो अथवा जब कुछ स्थायी भाव, आत्म-गौरव स्थायी भाव के नियंत्रण में न लाये गये हों, तो चरित्र निर्बल तथा अस्थिर होता है। चरित्र सम्पूर्णतया शिक्षण के द्वारा नहीं बनता। मूल प्रवृत्तियाँ, जो कि चरित्र पर प्रभाव डालती हैं, जन्मजात् होती हैं और भिन्न व्यक्तियों में भिन्न मात्रा में और न्यूनाधिक विशदता में होती हैं। इसके अतिरिक्त, स्वभाव का भी चरित्र में काफ़ी हाथ होता है; किन्तु स्वभाव की भिन्नता मनुष्य के अन्दर विशेष रसों की न्यूनाधिकता के कारण होती है। इसी प्रकार हमारे शरीर में कुछ रसोत्पादक ग्रन्थियाँ (Glands) ऐसी होती हैं, जो हमारे चरित्र पर गहरा प्रभाव डालती हैं। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ एवं पैतृकता भी चरित्र को निर्मित करने में विशेष महत्त्व रखती हैं।

चरित्र का निर्माण—चरित्र उन आदर्शों तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियों का केन्द्रीकरण है जो कि कुछ वंशानुक्रम पर और कुछ शिक्षण पर निर्भर है। क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ वास्तव में मूल प्रवृत्तियाँ हैं और उनका परिवर्तन सामाजिक शिक्षण पर निर्भर है।

भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में क्रियात्मक शक्ति की मात्रा की न्यूनाधिकता होती है। कुछ व्यक्तियों की इच्छा प्रबल होती है और वे उसको प्राप्त करने के लिए बहुत परिश्रम करते हैं। कुछ व्यक्तियों की इच्छा भी निर्बल होती है और क्रियात्मक शक्ति भी निर्बल होती है। प्रायः हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति अधिक होती है। विशद मूल प्रवृत्तियाँ चरित्र पर प्रबल प्रभाव डालती हैं, क्योंकि उनमें क्रियात्मक शक्ति प्रबल होती है। जिस व्यक्ति में लड़ने की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में हो, वह सर्वदा लड़ाई का कारण ढूँढ़ लेता है।

क्योंकि चरित्र जन्मजात् तथा अर्जित दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों पर निर्भर है, अतः चरित्र का शिक्षण अधिकतर मूल प्रवृत्तियों के शोध, स्थायी भावों के निर्माण तथा अच्छी रुचि और उच्च आदर्शों के ग्रहण करने के द्वारा ही हो सकता है। सामाजिक

दृष्टिकोण से मनुष्य के चरित्र के प्रति यह जानना आवश्यक है कि वह किस प्रकार की क्रीड़ा को पसन्द करता है। क्या वह स्वार्थी है अथवा परमार्थी? क्या वह मूर्ख है अथवा शिक्षा-प्रेमी? अतः शिक्षक का कार्य, शिशु की मूल प्रवृत्तियों को ढालना और उसमें उच्च स्थायी भावों का निर्माण करना है। वह उसमें स्थायी भावों तथा गुणों का निर्माण करता है, जो समाज के लिए आवश्यक हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि चरित्र के निर्माण में, शिशु के घर का समस्त वातावरण, पाठशाला के वातावरण की अपेक्षा, अधिक प्रभावशाली होता है। वह घर में ही सीखता है कि दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए; कि घर का एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कैसे व्यवहार करता है; घर से बाहर के व्यक्तियों से किस प्रकार भेंट करनी चाहिए इत्यादि। यदि घर वालों का चरित्र ऊँचा और अच्छा है तो उसका शिशु पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा। यदि घर के सब व्यक्ति आपस में प्रेम का व्यवहार करते हैं, यदि माता-पिता अपना ऋण चुका देते हैं, अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं, और पड़ोसियों से मित्रता रखते हैं, तो शिशु उनके व्यवहार से अच्छा नैतिक चरित्र ग्रहण करता है। यदि शिशु का पालन-पोषण दुश्चरित्र लोगों के घर में हो, तो बेचारा अध्यापक उसके चरित्र में बहुत परिवर्तन नहीं कर सकता। ऐसे शिशु के चरित्र को सुधारने के लिए उसके आदर्शों और दृष्टिकोण का सम्पूर्ण परिवर्तन होना आवश्यक है। दुश्चरित्र तथा अपराधी माता-पिता के शिशु तभी सुधारे जा सकते हैं, जब उनके दुष्कर्मों का परिणाम दुखःदायक निकल चुका हो। इस दृष्टिकोण से ही दुष्कर्मों के लिए दण्ड देना उचित है।

माता-पिता तथा शिक्षक अपने प्रमाण के द्वारा शिशु को शिक्षा दे सकते हैं। शिशु को जो कुछ कहा जाता है, वह उस पर विश्वास करता है। यदि घर में सत्य-परायणता तथा सेवा की प्रथा प्रबल हो, तो शिशु ऐसे स्थायी भावों को अर्जित करेगा। अतः चरित्र का निर्माण, केवलमात्र मूल प्रवृत्तियों के शोध अथवा उनको सामाजिक परमार्थ के मार्ग पर चलाने के द्वारा किया जा सकता है।

अभ्यास

१. आदत का क्या अर्थ है? और पदार्थ सम्बन्धी तथा मानसिक आदतों का ग्रहण-शीलता से क्या सम्बन्ध है?

२. आदत तथा मूल प्रवृत्ति की तुलना करते हुए, उनमें परस्पर भेद तथा समानता बतलाओ।

३. आदत के द्वारा की गई क्रिया के विशेष लक्षण कौन-कौनसे होते हैं?

४. आदत का निर्माण किस प्रकार होता है? उदाहरण देकर आदत के निर्माण के नियमों पर प्रकाश डालो।

५. आदत का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है और किस सीमा तक आदत शिक्षा में

लाभदायक हो सकती है ?

६. बुरी आदतों से निवृत्ति प्राप्त करने के उपाय कौन-कौनसे हैं ? उदाहरण देकर स्पष्ट करो।

७. चरित्र शब्द का मनोविज्ञान में क्या अर्थ है तथा चरित्र का आदत से क्या सम्बन्ध है ?

८. शिशु का चरित्र-गठन कैसे होता है और शिक्षक किस सीमा तक उसके चरित्र-गठन में सहायक हो सकता है ?

ग्यारहवाँ अध्याय

स्मृति (Memory)

स्मृति हमारे पूर्ववर्ती अनुभव का प्रत्ययों द्वारा प्रत्याह्वान माना गया है। यह मनोक्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह बाहरी विषयों द्वारा उत्तेजित ऐन्द्रिय ज्ञान की व्याख्यामात्र नहीं है और ना ही इसमें विषय की उपस्थिति आवश्यक है। जो कार्य हम कई बार करते हैं, वह स्थिर रूप में हमारे मानसिक जीवन में संचित हो जाता है और स्मरण-शक्ति के द्वारा उसका उचित समय पर प्रत्याह्वान होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा हम अनुभव को सीखते हैं। किन्तु; जब हम इस प्रकार सीखे हुए अनुभव का प्रत्याह्वान करते हैं तो वह स्मृति हो जाती है। प्रायः स्मृति शब्द केवल संचय (Retention) के अर्थ में लिया जाता है और कई बार उसे केवल प्रत्याह्वान समझा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मृति प्रत्ययों का प्रत्याह्वान है। किन्तु; बिना संचय के कोई प्रत्याह्वान नहीं हो सकता और संचय बिना सीखने के नहीं हो सकता। साथ ही पूर्ववर्ती अनुभव का प्रत्याह्वान करने के पश्चात् उस अनुभव की पहचान अथवा प्रत्यभिज्ञा (Recognition) करना आवश्यक हो जाता है। अतः स्मृति की पूर्ण क्रिया निम्नलिखित चार अंगों पर निर्भर है :—

१. सीखना (Learning)।

२. संचय (Retention)।

३. प्रत्याह्वान (Recall or reproduction)।

४. प्रत्यभिज्ञा (Recognition)।

सीखना—हम किसी भी विषय को अथवा अनुभव को सीखने के बिना स्मरण नहीं रख सकते। अतः बालक एक पाठ को कई बार पढ़ते हैं; उसका अर्थ समझने की चेष्टा करते हैं तथा उसे अन्य पढ़े हुए पाठों से सम्बन्धित करते हैं, तब कहीं जाकर उनका मन पाठ को ग्रहण करता है। सीखना एक प्रकार का मन में अनुभवों का परस्पर गठन करना है। जब हमारे अनुभव क्रमपूर्वक प्रकरण में जुड़ जाते हैं, तो सीखना सहज हो जाता है। शारीरिक विज्ञान के दृष्टिकोण से स्नायुओं तथा मस्तिष्क-कोष्ठों (Brain cells) में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का नाम सीखना है। जब हम किसी पुस्तक को एक बार पढ़ते हैं, हमारा मन पुस्तक में लिखे हुए विचारों को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार जब हम किसी घटना को देखते हैं, तो वह घटना हमारे अनुभव का अंग बन जाती है।

संचय—जब हम बार-बार एक पाठ को सीखते हैं तथा उस पर अवधान देते हैं, तो हमारे मन में एक प्रवृत्ति के रूप में अर्द्ध-चेतन चिह्न अंकित हो जाते हैं और हमारे

ग्रहणशील मस्तिष्क में भी आकार के परिवर्तन के रूप में शारीरिक प्रवृत्ति स्थापित हो जाती है। इसी प्रकार अर्द्ध-चेतन मन में मनोप्रवृत्तियों के रूप में पूर्ववर्ती अनुभव संचित रहते हैं। हमारा मस्तिष्क एक प्रकार का बहुत बड़ा कोष है, जिसमें शारीरिक प्रवृत्तियों के रूप में हमारे अनुभव की धरोहर संचित रहती है। यदि मनुष्य में पूर्ववर्ती अनुभव के संचय की शक्ति न होती, तो उसको प्रत्येक कार्य बार-बार नये सिरे से करना पड़ता और वह संसार में कभी भी उन्नति न कर सकता। मन की संचय-शक्ति का प्रमाण पूर्ववर्ती अनुभव का प्रत्याह्वान है, जिस प्रकार मन को सीखने की शक्ति का प्रमाण मनोवृत्तियों का संचय है।

प्रत्याह्वान—हमारे पूर्ववर्ती अनुभव मन में, एक तिजोरी में बन्द किये हुए कृपण के धन की भाँति, निरर्थक नहीं हैं; अपितु उनकी तुलना बैंक में जमा किये हुए उस धन से की जा सकती है, जो कि समय-समय पर निकाला जाकर प्रयोग में लाया जा सकता है। हमारे संचित पूर्ववर्ती अनुभव अथवा मानसिक प्रवृत्तियों का उचित समय पर प्रत्याह्वान किया जाता है और वह प्रत्याह्वान हमारे अनुभव में परिवर्तन तथा वृद्धि करता है। स्मरण करते समय हम पूर्ववर्ती अनुभव का प्रत्याह्वान करते हैं। स्मरण करना केवल पूर्ववर्ती अनुभव का उसी क्रम में प्रत्याह्वान करना अथवा दोहराना है। ऐसा करते हुए हम अर्द्ध-चेतन मन के चिह्नों को चेतना के स्तर पर लाते हैं। जो पाठ हम भूतकाल में सीख चुके हैं, वह मन में देर तक संचित रहता है। हम उसे प्रत्याह्वान करते समय चेतना के क्षेत्र में लाते हैं। यह संभव है कि ऐसा करते समय हमें कठिनाई का सामना करना पड़े। वास्तव में कई बार एक विषय के मन में अच्छी तरह संचित होते हुए भी उसका प्रत्याह्वान नहीं हो सकता। हम एक व्यक्ति का नाम जानते हैं, जिसका प्रमाण उसी नाम को बाद में प्रत्याह्वान करने से मिलता है, किन्तु फिर भी समय पर हम उसका प्रत्याह्वान नहीं कर सकते। इसी प्रकार हम परीक्षा में पूछे गये प्रश्न का उत्तर जानते हैं, किन्तु परीक्षा में घबराहट के कारण ठीक उत्तर दे नहीं पाते और केवल देर के बाद, बहुत देर के बाद, ठीक उत्तर हमारे मन में उमड़ता है। ऐसे अवसरों पर किसी प्रकार का विलयन अथवा रुकावट प्रत्याह्वान को रोक देती है। प्रत्याह्वान का अर्थ उस कार्य को वर्तमान में फिर से करना है, जो कि भूत में सीखा गया है। ऐसी क्रिया किसी कविता अथवा पाठ का दोहराना हो सकता है, किसी हाथ की कलापूर्वक गति का करना हो सकता है, अथवा देखना, सुनना, समझना इत्यादि क्रियाओं का फिर से करना हो सकता है। प्रत्याह्वान में हम सीखे हुए सारे अनुभव को फिर से नहीं करते, उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। यदि प्रत्याह्वान में सारी सीखी हुई क्रिया को फिर से किया जाता, तो वह एक प्रकार से फिर सीखना हो जाता। संचय के द्वारा सीखी हुई क्रिया का यंत्र हमारे मन में उपस्थित रहता है और प्रत्याह्वान के द्वारा, इस यंत्र को पुनः क्रिया में

परिवर्तित किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा—पूर्ववर्ती अनुभव का केवलमात्र प्रत्याह्वान ही स्मृति की क्रिया को पूर्ण नहीं करता, जब तक कि प्रत्याह्वान किये हुए अनुभव की प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचान न हो। जब तक कि हमारे मन में परिचय का चिह्न (Mark of familiarity), चैन अथवा संतोष (Mode of at-homeness) का भाव उत्पन्न न कर दे, तब तक स्मृति की क्रिया पूरी नहीं होती। जब हम अपने पुराने सहपाठी को काफ़ी समय के पश्चात् देखते हैं तब हम स्मरण करते हैं कि वह अमुक व्यक्ति हमारे साथ अमुक पाठशाला में पढ़ता था। इस प्रकार की पहचान प्रत्यभिज्ञा की क्रिया है। प्रत्यभिज्ञा में हमें एक प्रकार का मानसिक सन्तोष होता है। कई बार प्रत्यभिज्ञा की क्रिया सम्पूर्ण नहीं होती। जब हम एक व्यक्ति को बाज़ार में देखते हैं तो उसका चेहरा हमें परिचित प्रतीत होता है; किन्तु हम यह स्मरण नहीं कर सकते कि उसको हमने कब और कहाँ देखा था। इस प्रकार की अधूरी प्रत्यभिज्ञा में हमारी अर्द्ध-चेतना और चेतना में एक प्रकार का संघर्ष होता है; अर्द्ध-चेतन प्रवृत्ति चेतना के स्तर पर नहीं आ पाती। जब तक कि प्रत्यभिज्ञा न हो जाय, तब तक स्मृति की प्रक्रिया परिपूर्ण नहीं होती। अतः हम कह सकते हैं कि सीखना, संचय, प्रत्याह्वान तथा प्रत्यभिज्ञा स्मृति के मुख्य अंग हैं।

उत्कृष्ट अथवा अच्छी स्मृति के लक्षण (The marks of a good memory)—अध्यापक का भिन्न प्रकार के छात्रों से सम्पर्क होता है। कुछ छात्र पाठ को तुरन्त ही ग्रहण कर लेते हैं और तुरन्त ही भूल जाते हैं। कुछ छात्र पाठ के ग्रहण करने में काफ़ी समय लगाते हैं; किन्तु पढ़े हुए विषय को चिरकाल तक स्मरण रखते हैं। कुछ बालक स्मरण किये हुए विषय का प्रत्याह्वान शीघ्र करते हैं और कुछ छात्रों का प्रत्याह्वान मन्थर और मन्द होता है। दूसरे शब्दों में कुछ छात्रों की स्मृति उत्कृष्ट अथवा अच्छी होती है और कुछ की स्मृति हीन तथा मन्द होती है। अतः शिक्षक के लिए उत्कृष्ट स्मृति के लक्षणों का जानना आवश्यक है। नीचे दिये गये कुछ लक्षण आसानी से इस बात का निर्णय करते हैं कि अमुक स्मृति उत्कृष्ट है, अमुक मन्द है—

१. ग्रहण करने में शीघ्रता (Quickness in learning)—जिस व्यक्ति की स्मृति अच्छी है, वह स्मरणीय विषय अथवा पाठ को बहुत थोड़े ही समय में ग्रहण कर लेता है। इसलिए जो छात्र शिक्षक के एक ही बार पाठ पढ़ाने पर उसे ग्रहण कर लेते हैं, उनकी स्मृति अच्छी है; किन्तु जो छात्र विषय को समझने में अथवा ग्रहण करने में आवश्यकता से अधिक समय लगाते हैं, उनकी स्मृति अच्छी नहीं। ऐसे छात्र को बार-बार पढ़ाने पर भी कुछ समझ में नहीं आता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि किसी विषय के प्रति हमें रुचि हो तो उसके सीखने में अधिक समय नहीं लगता। शिक्षक

को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ाते समय वह अपने विषय को बालकों के लिए रोचक बनाये ताकि वह उसे शीघ्रतया ग्रहण कर लें।

२. स्मरण रखने की अवधि (The length of time during which an experience lasts)—एक अनुभव को चिरकाल तक स्मरण रखना उत्कृष्ट स्मृति का सूचक है। कुछ व्यक्ति एक अनुभव को ग्रहण तो शीघ्र कर लेते हैं, किन्तु वे उस अनुभव को अपने मन में अधिक समय तक संचित नहीं रख सकते। ऐसे व्यक्तियों की स्मरण-शक्ति मन्द होती है। जो बालक अच्छी स्मृति वाला है, वह एक बार पढ़े हुए पाठ को कभी नहीं भूलता। इसके विरुद्ध मन्द स्मृति वाला बालक कुछ मिनटों के पश्चात्, ग्रहण किये हुए पाठ को भूल जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने काफ़ी प्रयोगों के पश्चात् निश्चय किया है कि किशोरावस्था से पहले-पहले, विशेषकर नौ वर्ष की आयु से लेकर बारह वर्ष की आयु तक, जो अनुभव ग्रहण किये जाते हैं, वे आयु-पर्यन्त संचित रहते हैं। अतः छोटी आयु में मानसिक प्रवृत्तियों को चिरकाल तक संचय करने की शक्ति अधिक होती है।

३. प्रत्याह्वान में शीघ्रता (Quickness in recall)—एक अनुभव को चिरकाल तक संचित रखना ही केवलमात्र अच्छी स्मृति का लक्षण नहीं है, जब तक कि उस संचित अनुभव का प्रत्याह्वान शीघ्रतापूर्वक न किया जा सके। कई व्यक्ति एक अनुभव को चिरकाल तक मन में संचित तो रखते हैं, किन्तु वे उसका प्रत्याह्वान बहुत देर से करते हैं। जिस व्यक्ति की स्मृति अच्छी है, वह पूर्ववर्ती अनुभव का प्रत्याह्वान बहुत शीघ्र कर लेता है। वह छात्र, जिसकी स्मृति अच्छी है, परीक्षा देते समय प्रश्न को पढ़ते ही स्मरण किये हुए पाठ का प्रत्याह्वान करता है और नियत समय के अन्दर सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे देता है। किन्तु मन्द स्मृति वाला बालक, प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने में आवश्यकता से अधिक समय लगाता है और मन्थर प्रत्याह्वान के कारण परीक्षा में सब प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता। कई बार अच्छी स्मृति वाला व्यक्ति भी प्रत्याह्वान में विलम्ब करता है, किन्तु उसके लिए ऐसे अवसर बहुत कम होते हैं।

स्पष्टता (Vividness)—स्पष्टता तथा पूर्ण व्याख्या भी अच्छी स्मृति का लक्षण है। उत्कृष्ट स्मृति वाला व्यक्ति जब किसी अनुभव की हुई घटना का स्मरण करता है, तो उसकी व्याख्या परिपूर्ण तथा स्पष्ट रूप से देता है। वह घटना के प्रत्येक अंग को क्रमशः स्मरण करता हुआ विस्तृतता से अनुभव का प्रत्याह्वान करता है और किसी भी आवश्यक अंग को नहीं भूलता। इसके विरुद्ध जिस व्यक्ति की स्मृति अच्छी नहीं होती उसका प्रत्याह्वान अस्पष्ट तथा अधूरा होता है। अच्छी स्मृति वाला छात्र परीक्षा में प्रश्नों का उत्तर व्याख्यापूर्वक, क्रमपूर्वक तथा विस्तृत रूप में देता है। इसके विरुद्ध मन्द स्मृति वाला छात्र प्रश्नों के उत्तर अधूरे तथा बिखरे हुए ढंग से देता है।

उपयोगिता (Serviceableness)—अच्छी स्मृति का एक मुख्य लक्षण उसकी उपयोगिता है। उपयोगिता का अर्थ इस स्थान पर औचित्य से है अर्थात् जिस व्यक्ति की स्मृति उत्कृष्ट है, वह केवल आवश्यक तथा उपयोगी अनुभवों का प्रत्याह्वान उचित रूप में करता है और अनावश्यक तथा अनुपयोगी अनुभवों को भूल जाता है। इस दृष्टिकोण से अनावश्यक अनुभवों का विस्मरण उत्कृष्ट स्मृति के लिए अनिवार्य है। जिस छात्र की स्मृति अच्छी है, वह मनोविज्ञान की परीक्षा देते समय, उसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का ही स्मरण करेगा और अन्य विषय सम्बन्धी विचारों का प्रत्याह्वान नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में उसकी स्मृति विवेक के द्वारा अनुचित अनुभवों का विस्मरण करके केवल उचित अनुभवों का प्रत्याह्वान करेगी। जिस छात्र की स्मृति निकृष्ट अथवा मन्द है वह सम्भवतया अन्य विषय सम्बन्धी विचारों का प्रत्याह्वान करेगा। उदाहरणस्वरूप, मनोविज्ञान की परीक्षा देते समय, उसके मन में इतिहास की घटनाओं का प्रत्याह्वान होता रहेगा। यदि उनके मन में उसी विषय सम्बन्धी विचारों का प्रत्याह्वान भी हो तो भी वह अनुचित तथा अनावश्यक विचारों का होगा। जीवन में उन्नति करने के लिए स्मृति का औचित्य आवश्यक भी है। यदि हमें प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक सब अनुभवों का हर समय स्मरण रहता, हम अनावश्यक अनुभवों का रत्ती भर भी विस्मरण न कर सकते, तो हमारा मानसिक विकास सर्वदा के लिए रुक जाता। जो व्यक्ति केवल तोता-रटन्त के द्वारा ही परीक्षा के प्रश्नों का स्मरण कर लेते हैं, वे परीक्षा देते समय आवश्यक तथा अनावश्यक विचारों में विवेक नहीं कर सकते और कई बार इसी कारण अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक ने कहा है कि विस्मरण उत्कृष्ट स्मृति का चिह्न है (Forgetfulness is the sign of a good memory)।

स्मरण-शक्ति की वृद्धि (The improvement of memory)—उपरोक्त स्मृति की प्रक्रिया के विश्लेषण के पश्चात् निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं :—

१. क्या स्मरण करने की विधि में वृद्धि हो सकती है?

२. क्या संचय-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है?

३. क्या प्रत्याह्वान में परिवर्तन हो सकता है?

४. क्या प्रत्यभिज्ञा में सुगमता हो सकती है?

जहाँ तक प्रत्यभिज्ञा का प्रश्न है, यह अनुमान लगाना कठिन है कि इस क्रिया का शिक्षण कैसे किया जाय, क्योंकि यह क्रिया अस्थिर तथा अप्रत्यक्ष है। किन्तु, यह देखा गया है कि एक विशेष श्रेणी के विषयों की प्रत्यभिज्ञा में प्रवीणता प्राप्त करने से इस बात के निर्णय करने में अवश्य सुगमता हो जाती है कि अमुक परिचय की भावना विश्वसनीय है कि नहीं। इसके द्वारा हम शुद्ध प्रत्यभिज्ञा तथा अशुद्ध प्रत्यभिज्ञा की भावनाओं में अन्तर समझने में समर्थ हो सकते हैं।

प्रत्याह्वान में सुगमता—प्रत्याह्वान की क्रिया के प्रति भी हम आसानी से अनुमान नहीं लगा सकते कि कहाँ तक इसमें वृद्धि हो सकती है। प्रायः जब हम किसी समय किसी कारण से एक अनुभव का प्रत्याह्वान नहीं कर सकते, उस समय सबसे उपयोगी उपाय प्रत्याह्वान करने के प्रयास को छोड़ देना है, क्योंकि ऐसा करने से हमें विश्राम मिलता है, और इस विश्राम की अवधि में प्रत्याह्वान में रुकावट डालने वाली अर्द्ध-चेतना की प्रवृत्तियाँ प्रत्याह्वान के मार्ग से हट जाती हैं। अतः प्रत्याह्वान की वृद्धि के लिए यत्न, विश्राम और पुनः यत्न करना लाभदायक नियम है। अपनी स्मृति पर विश्वास करना प्रत्याह्वान के लिए अधिक उपयोगी है। इसके विरुद्ध सन्देह की अव्यवस्था में रहना हानिकारक है। आत्मविश्वास के कारण प्रत्याह्वान में सुगमता प्राप्त होती है।

संचय तथा स्मृति की वृद्धि—संचय कोई क्रिया नहीं है, अपितु एक विश्राम की अवस्था है, तो इस मनोवृत्ति में परिवर्तन कैसे किया जा सकता है? फिर भी मस्तिष्क को स्वस्थ रखने की सम्मति दी जा सकती है, ताकि उसकी संचय-शक्ति क्षीण न हो। सिर पर चोट न आने देना स्मृति के लिए आवश्यक है। निरन्तर नशीली वस्तुओं का अथवा मदिरा का प्रयोग करना संचय-शक्ति को क्षीण कर देता है। अतः मानसिक स्वास्थ्य-विधि के नियमों का पालन करके संचय-शक्ति की रक्षा की जा सकती है। किन्तु ऐसा करने से संचय की वृद्धि अथवा उसका शिक्षण नहीं किया जा सकता। उपरोक्त बातों से प्रकट होता है कि हम किसी प्रकार से भी, संचय-शक्ति, प्रत्याह्वान तथा प्रत्यभिज्ञा में परिवर्तन नहीं कर सकते। स्मरण-शक्ति नैसर्गिक तथा जन्मजात् प्रवृत्ति है। अतः यह प्रत्यक्ष रूप में मानवी नियन्त्रण की सीमा में नहीं आती। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि स्मरण-शक्ति की वृद्धि की जा सकती है। वास्तव में यह बात ग़लत है। स्मरण-शक्ति हमारे अवधान तथा रुचि पर निर्भर है। इसीलिए शिक्षण तथा अभ्यास के द्वारा अवधान की शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है, न कि प्रत्याह्वान की शक्ति में। महाशय जेम्ज ने ठीक ही कहा है कि स्मृति की वृद्धि का अर्थ केवल स्मरण-शक्ति के अनुभवों के संचय करने की स्वाभाविक विधि की वृद्धि है। इस दृष्टिकोण से हमारे सीखने की क्षमता, न कि संचय की शक्ति, बढ़ाई जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विशेष क्षेत्र में अभ्यास करने से उसी सीमा में स्मृति की वृद्धि हो सकती है। निरन्तर अभ्यास के कारण अभिनेता अपने पाठ को सुगमता और शीघ्रता से सीख जाते हैं। इसी प्रकार से वकील लोग विधान सम्बन्धी अनुभवों का स्मरण करने में विशेष स्मृति रखते हैं। वास्तव में इस प्रकार की विशेषता में स्मरण करने वाला व्यक्ति केवल अपने सीखने की विधि में वृद्धि करता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि किसी व्यक्ति की स्मृति एक विशेष क्षेत्र में उत्कृष्ट है तो वह दूसरे क्षेत्र में भी वैसी ही स्पष्ट, सजग तथा उपयोगी होगी। किन्तु फिर भी अभ्यास के द्वारा हमारे स्मरण करने की सामान्य विधि में वृद्धि हो सकती है। जिस प्रकार रुचि, अभ्यास,

अवधान तथा पुनरावृत्ति प्रत्ययों के परस्पर जोड़ को सुदृढ़ बनाते हैं, उसी प्रकार वे हमारे अनुभवों को दृढ़ता से संचित होने में सहायता देते हैं। शिक्षक इन नियमों का प्रयोग करके छात्रों की स्मरण करने की विधि में विशेष परिवर्तन करा सकता है। निम्नलिखित नियमों का पालन करने से बालकों की स्मरण करने की विधि में वृद्धि कराई जा सकती है तथा उनकी स्मृति सुशिक्षित की जा सकती है :—

स्वास्थ्य—इसका स्मृति के शिक्षण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अस्वस्थ अवस्था में तथा थकावट में कोई भी मानसिक क्रिया सुचारु रूप से नहीं की जा सकती। विशेषकर प्रयासात्मक अवधान, जो कि अनुभवों को स्मृति में दृढ़ता से अंकित करने के लिए अनिवार्य है, अस्वस्थ शारीरिक अवस्था में नहीं किया जा सकता। विशेषकर छोटे बालक यदि थके हुए हों, तो वे पाठ को कदापि स्मरण नहीं कर सकते। इसलिए उनके पढ़ने के घंटे बहुत लम्बे नहीं होने चाहिएँ। साधारणतया पच्चीस से तीस मिनट का घंटा पाँच से सात वर्ष के शिशु के लिए पर्याप्त है। जिस विषय में स्मरण-शक्ति का प्रयोग करना हो, उस विषय को पहले घंटों में पढ़ाना लाभदायक है। जब शिशु थक जाय तब मनोरंजन तथा विश्राम के द्वारा उसको फिर सजग बनाया जा सकता है। इसलिए आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में शिशुओं की पाठशाला में ही दूध, फल इत्यादि खाने के लिए दिये जाते हैं, और ऐसा करना शिशुओं के मानसिक विकास के लिए तथा उनकी स्मृति की वृद्धि के लिए हितकर है।

निरीक्षण-सम्पन्न अथवा विवेचनात्मक अध्ययन (Observant learning)—किसी विषय को अथवा पाठ को स्मरण करते समय उसका विवेचन करना तथा उसके सार को भलीभाँति समझ लेना, स्मृति को चिरकाल तक बनाये रखने के लिए बहुत आवश्यक है। ऐसा करने के लिए स्मरण करने योग्य विषय का आदि से लेकर अन्त तक सम्पूर्ण निरीक्षण करना चाहिए और ऐसा करते समय विषय के भिन्न भागों तथा विचारों के परस्पर सम्बन्ध और गठन को ध्यान में रख लेना चाहिए। जिस विषय को इस विधि से स्मरण करने की चेष्टा की जायगी, वह चिरकाल तक तथा दृढ़ता से हमारे मन में संचित रहेगा और प्रत्याह्वान सुगमता से किया जा सकेगा। इसके विरुद्ध जिस विषय को बिना समझे रट लिया जाय और उसके विभिन्न विचारों तथा अंगों में परस्पर सम्बन्ध न जोड़ा जाय, तो वह विषय थोड़े ही समय में विस्मृत हो जाता है। स्मरण रहने पर भी उसका उचित समय पर सुचारु रूप से प्रत्याह्वान नहीं हो सकता। यही कारण है कि परीक्षा के लिए तोता-रटन्त विधि हानिकारक है। यदि कोई छात्र केवल तोता-रटन्त विधि के द्वारा उत्तीर्ण भी हो जाय, तो वह भावी जीवन में किसी भी बौद्धिक कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और ना ही वह अपने ज्ञान का प्रयोग कर सकता है।

दोहराना (Repetition)—जिस पाठ को स्मरण करना हो उसे बार-बार

दोहराने से मन में चिरकाल तक संचित किया जा सकता है। जितनी बार पाठ को दोहराया जायगा, उतनी ही गहरी प्रतिमा या रेखा स्मृति में अंकित होगी। शिक्षक एक विषय पर भाषण देकर अन्त में यदि संक्षिप्त रूप से अपने भाषण के मुख्य विचारों को दोहरा दे, तो पाठ का सारांश छात्रों की स्मृति में अंकित हो जाता है।

सम्पूर्ण विधि (Whole method versus Part method)—पाठ को बार-बार पढ़ते समय उसके प्रत्येक वाक्य को बार-बार दोहराने की अपेक्षा सम्पूर्ण पाठ को दोहरा देना स्मृति की वृद्धि के लिए लाभदायक है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों के द्वारा सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण विधि के द्वारा स्मरण किया हुआ पाठ, टुकड़े-टुकड़े करके स्मरण किये हुए पाठ की अपेक्षा, शीघ्र ग्रहण किया जाता है। उसका कारण यह है कि पाठ का विभाजन कर देने से उसके विभिन्न अंगों तथा विचारों का गठन नहीं हो सकता और ना ही उसका सारांश जाना जा सकता है। यदि स्मरण करने योग्य विषय बहुत लम्बा हो, तो उसका विभाजन कर देना आवश्यक है। किन्तु एक बार विषय के स्मरण हो जाने पर उसका सम्पूर्ण पाठ करना स्मृति की वृद्धि में सहायक होता है।

अन्तरयुक्त विधि (Spaced method)—स्मृति के परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि किसी विषय को निरन्तर याद करने की अपेक्षा अन्तर्युक्त विधि से याद करना अथवा कुछ अवकाश के पश्चात् याद करना स्मृति के लिए अधिक उपयोगी है। निरन्तर याद करने से एक तो थक जाने की सम्भावना है और दूसरे इस विधि के द्वारा सीखने में अधिक समय लगता है तथा ग्रहण किया हुआ अनुभव काफ़ी समय के लिए संचित नहीं रहता। अन्तर्युक्त प्रयास करने से अनुभवों को स्मृति में स्थापित होने का अवकाश मिल जाता है। जिस पाठ का निरन्तर अध्ययन किया जाय, उसमें स्वभावतया रुचि का अभाव हो जाता है और बिना रुचि के किसी भी अनुभव का ग्रहण अथवा संचय नहीं हो सकता। इसी दृष्टिकोण से एक ही विषय को निरन्तर कई घंटों में पढ़ाना निन्दनीय है। अतः प्रत्येक घंटे में नवीन विषय का पढ़ाना लाभदायक है। इसी प्रकार जो छात्र आरम्भ से परिश्रम करते हैं और पूर्ण एक वर्ष में अपनी पुस्तक का अध्ययन करते हैं, वे परीक्षा के पश्चात् भी अध्ययन किये हुए विषय को स्मरण रखते हैं। इसके विरुद्ध जो छात्र अन्तिम दो महीनों में केवल तोता-रटन्त विधि द्वारा ही परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं, वे थोड़े ही समय में पढ़े हुए विषय को भूल जाते हैं।

संवेगों से निवृत्ति (Freedom from emotions)—स्मरण करते समय हमारी मानसिक अवस्था सामान्य तथा क्षोभ-रहित होनी चाहिए। संवेग हमारी मानसिक अवस्था में उथल-पुथल पैदा करते हैं। ऐसी अवस्था में न तो हम अवधान-युक्त अध्ययन कर सकते हैं और ना ही पूर्ववर्ती अनुभवों का प्रत्याह्वान सुचारु रूप से कर सकते हैं। भय, क्रोध इत्यादि संवेग स्मृति पर बहुत आघात करते हैं। कितने ही वक्ता सुचारु रूप से

स्मरण किये हुए भाषण को मंच पर आने के पश्चात् भय के कारण सम्पूर्णतया भूल जाते हैं। हमारे महाविद्यालयों तथा पाठशालाओं की आयोजित परीक्षाओं में यह बड़ी भारी त्रुटि रह जाती है कि उसमें बालकों को संवेगों से निवृत्त होने का अवसर नहीं मिलता। परीक्षा का भय बालक के मन पर आच्छादित रहता है, जिसके कारण वह अपने सब विचारों का प्रत्याह्वान नहीं कर पाता। संवेगों से निवृत्ति प्राप्त करने का एकमात्र साधन आत्मविश्वास है। अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों को अपने आप पर विश्वास रखने की शिक्षा दे।

अभ्यास

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्मृति की परिभाषा देकर उसकी व्याख्या करो।
२. स्मृति की पूर्ण प्रक्रिया में हमें कौन-कौनसे विशेष स्मृति के स्तरों से गुज़रना पड़ता है?
३. प्रत्याह्वान में बाधा के कौन-कौनसे कारण हो सकते हैं, और उन कारणों को कैसे दूर किया जा सकता है?
४. अच्छी स्मृति के कौन-कौनसे लक्षण हैं? उदाहरण सहित उनकी पूर्ण व्याख्या करो।
५. स्मृति की वृद्धि का क्या अर्थ है? किस सीमा तक स्मरण-शक्ति की वृद्धि की जा सकती है?
६. किसी विषय को स्मरण करते समय कौन-कौनसे उपायों के द्वारा स्मृति को सहायता दी जा सकती है?
७. 'विस्मृति अथवा भूल जाना अच्छी स्मृति का एक लक्षण है'—इस वाक्य की विवेचना करो।
८ किसी विषय को पढ़ते समय स्मृति के दृष्टिकोण से, निरन्तर पढ़ने की अपेक्षा अवकाश देकर पढ़ना क्यों लाभदायक है?

बारहवाँ अध्याय

ऐन्द्रिय ज्ञान (Sensation)

ऐन्द्रिय ज्ञान का महत्त्व—इस संघर्षमय संसार में जीवित रहने के लिए वातावरण का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक प्राणी के लिए नितान्त आवश्यक है। जब तक कि वातावरण का ज्ञान न हो, कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता; यदि जीवित रहे, तो सुरक्षित नहीं रह सकता; और यदि सुरक्षित भी रहे, तो वह सुरक्षा चिरस्थायी नहीं होती। अतः प्रकृति ने सब प्राणियों को उनकी अवस्था के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ प्रदान की हैं, जिनके द्वारा वे अपने वातावरण का ज्ञान प्राप्त करके अपने व्यवहार को परिस्थितियों के अनुकूल बना सकते हैं। प्रकृति ने ज्ञानेन्द्रियों के विभाजन में भी मनुष्य पर अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशेष अनुग्रह किया है। उसने मनुष्यमात्र को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं। इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वह बाहरी जगत् के सम्पर्क में आता है, और सब विषयों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ (१) नेत्र, (२) कर्ण, (३) त्वचा, (४) जिह्वा (जबान) और (५) नाक हैं। अतः ऐन्द्रिय ज्ञान इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर प्रायः पाँच श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाहरी विषय की उत्तेजना विशेष स्नायुओं की सहायता से मस्तिष्क तक पहुँचती है और वहाँ स्नायु कोष्ठों के परिस्फुटित होने से हम ऐन्द्रिय ज्ञान अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। देखना, सुनना, सूँघना इत्यादि ऐन्द्रिय ज्ञान हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान हमारा सर्वप्रथम शुद्ध ज्ञान होता है। जब शिशु सर्वप्रथम संसार में प्रवेश करता है, वह ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही अपने अनुभव का आरम्भ करता है। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है, उसका अनुभव पेचीदा तथा विस्तृत होता चला जाता है। क्योंकि ऐन्द्रिय ज्ञान हमारे अनुभव का आधार है, इसलिए शिशु को शिक्षा देते समय ऐन्द्रिय ज्ञान की वृद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों की रक्षा विशेष महत्त्व रखती है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर ऐन्द्रिय ज्ञान को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभक्त किया जाता है :—

१. दृष्टिज्ञान अथवा नेत्र सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान (Visual sensation)।
२. श्रवणज्ञान अथवा शब्द सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान (Auditory or sound sensation)।
३. घ्राण-ज्ञान अथवा नाक सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान (Olfactory sensation)।
४. जिह्वा सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान (Gustatory sensation)।

५. स्पर्श अथवा त्वचा सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान (Tactual sensation);

आधुनिक मनोविज्ञान में उपरोक्त श्रेणियों के अतिरिक्त मांसपेशी सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान (Kinesthetic sensation) को पृथक् माना जाता है। इसी प्रकार त्वचा सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान को उष्ण, शीतल तथा भार (pressure) सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान— इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। शिक्षा-मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य ऐन्द्रिय ज्ञान के सामर्थ्य (Acuity) को जानना तथा उसके दोषों का ज्ञान प्राप्त करके यथोचित शिक्षा-पद्धति द्वारा शिशुओं को शिक्षा देना है। इस उद्देश्य की व्याख्या करने से पूर्व ऐन्द्रिय ज्ञान की दृष्टि तथा श्रवण सम्बन्धी दो मुख्य श्रेणियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

दृष्टि-ऐन्द्रिय ज्ञान—दृष्टि सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान हम नेत्र द्वारा प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान की उत्तेजना प्रकाश के द्वारा होती है। बिना प्रकाश के हम किसी वस्तु या विषय को नहीं देख सकते। अतः प्रकाश को दृष्टिज्ञान का उत्तेजक अथवा प्रोत्साहक (Stimulus) पदार्थ माना जाता है। जब प्रकाश किसी वस्तु पर पड़ता है, तो उसकी किरणें, प्रकाश-तरंगों (Light waves) के रूप में, नेत्रों में प्रवेश करती हैं। वे आँख के पिछले भाग में स्थित चित्रपट (Retina) पर गिरती हैं और उसमें विशेष रसायनिक परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार वह रसायनिक परिवर्तन दृष्टि स्नायु के द्वारा मस्तिष्क में पहुँचाया जाता है, जहाँ पर ऐन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी प्रदेश (Sensory area) में स्नायु-कोष्ट परिस्फुटित होते हैं और हम उस वस्तु को देखते हैं। यह सारी प्रक्रिया बहुत ही थोड़े समय के अन्दर हो जाती है। दृष्टिज्ञान को पूर्णतया समझने के लिए उससे सम्बन्धित ऐन्द्रिय यन्त्र, नेत्र, का व्याख्यापूर्वक ज्ञान आवश्यक है। प्रायः नेत्र की तुलना फ़ोटो खींचने वाले यन्त्र (Camera) से की जाती है। साथ में दिया हुआ नेत्र का चित्र, उसके विशेष भागों की क्रिया पर उचित प्रकाश डालता है।

चित्र ४.
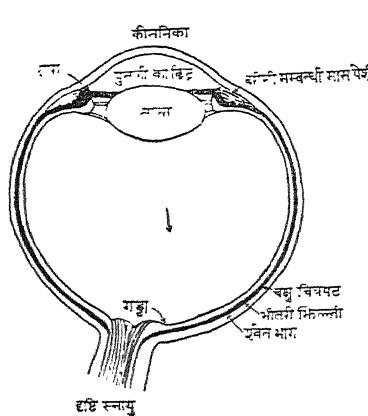
जिस प्रकार फ़ोटो खींचने के यन्त्र के अन्दर फिल्म अथवा प्लेट होती है, उसी प्रकार चक्षु-चित्रपट नेत्र के पिछले भाग में उपस्थित रहता है। चक्षु का बाहरी श्वेत पर्दा, जिसको अंग्रेजी में स्लैरोटिक (Sclerotic) पर्दा कहते हैं, मानो उस लकड़ी का काम देता है जिससे फ़ोटो खींचने का यन्त्र बना हुआ होता है। आँख की भीतरी

झिल्ली काली होती है। वह मानो फ़ोटो के यन्त्र का भीतरी काला रंग है। चक्षु के अग्रभाग में आँख की पुतली के अन्दर जो छिद्र होता है, उसको अंग्रेजी में प्यूपल (Pupil) कहते हैं। यह छिद्र फ़ोटो यन्त्र के अग्रभाग वाले उस छिद्र की भाँति होता है, जो आवश्यकता के अनुसार न्यूनाधिक प्रकाश के प्रवेश के लिए लगा रहता है। यदि हम अंधेरे में कुछ देख रहे हों, तो वह छिद्र चौड़ा हो जाता है और यदि आवश्यकता से अधिक उजाला हो, तो यह छिद्र संकुचित हो जाता है। इस छिद्र के पीछे जो चक्षु-ताल है वह फ़ोटो यन्त्र के ताल (Lens) की भाँति होता है। यह ताल दोनों ओर से दो प्रकार के तरल पदार्थ के मध्य में होता है। जिस प्रकार फ़ोटो यन्त्र में प्रकाश छिद्र के द्वारा ताल से प्रवेश करके प्लेट अथवा फ़िल्म पर गिरता है, उसी प्रकार चक्षु में भी छिद्र के द्वारा प्रवेश करके प्रकाश चक्षु-ताल से निकलकर चक्षु-चित्रपट पर गिरता है, और वहाँ चित्र अंकित करता है।

वर्णान्धता (Colour-blindness)—दृष्टि-ऐन्द्रिय ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) निर्मल ऐन्द्रिय ज्ञान (Brightness sensation) और (२) वर्ण ऐन्द्रिय ज्ञान (Colour sensation)। निर्मल ऐन्द्रिय ज्ञान का अर्थ श्वेत, काले और धूसर पदार्थों का ऐन्द्रिय ज्ञान है और वर्ण ऐन्द्रिय ज्ञान का अर्थ लाल, हरे, पीले तथा नीले सब प्रकार के रंग वाले पदार्थों का ऐन्द्रिय ज्ञान है। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि वर्ण-दृष्टिज्ञान चक्षु के विकास में अन्तिम सीढ़ी है। चक्षु के चित्रपट में दण्ड (Rods) तथा शंकु दो प्रकार के पदार्थ होते हैं। निर्मल दृष्टिज्ञान दण्डों के कारण होता है तथा वर्ण-दृष्टिज्ञान शंकुओं के द्वारा होता है। इन दण्डों तथा शंकुओं के दोष के कारण वर्णान्धता (Colour-blindness) अथवा रंगों के प्रति अंधेपन का रोग हो जाता है। जिस व्यक्ति के चक्षु में केवलमात्र दण्ड ही हों, वह किसी प्रकार के वर्ण अथवा रंग को नहीं देख सकता। ऐसी वर्णान्धता को Total colour-blindness अथवा पूरा रंगों का अन्धापन कहते हैं। ऐसा व्यक्ति लाल, हरा, नीला तथा पीला रंग नहीं देख सकता और ना ही इन रंगों के मिश्रण से बने हुए किसी अन्य रंग को देख सकता है। कुछ व्यक्ति सम्पूर्ण-वर्णान्ध होते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। जिन व्यक्तियों के चक्षुओं में शंकुओं की कमी होती है, वे अर्द्ध-वर्णान्ध (Partial colour-blind) होते हैं। अर्द्ध-वर्णान्धता अथवा रंगों के अधूरे अन्धेपन के रोग वाला व्यक्ति केवल लाल तथा हरे रंगों को तथा इन दोनों रंगों के किसी भी मिश्रण को नहीं देख सकता। किन्तु वह श्वेत, काले, धूसर, नीले तथा पीले सब प्रकार के पदार्थों को भली प्रकार देख सकता है। वर्णान्धता प्रायः बालकों में दो प्रतिशत और बालिकाओं में केवल आधा प्रतिशत होती है।

श्रवण-ऐन्द्रिय ज्ञान—श्रवण-ऐन्द्रिय ज्ञान का ऐन्द्रिय यन्त्र कान है। किन्तु नाक

का बाहरी भाग, जो हमें दीख पड़ता है, वास्तव में कान नहीं है, वह तो केवलमात्र शब्द को ग्रहण करने का यन्त्र है। किन्तु इस बाहरी कान में जो छिद्र है उसके आन्तरिक भाग में आन्तरिक कर्ण है। उसमें बहुत ही सूक्ष्म तन्तुओं का एक ढोल-सा बना होता है और उस ढोल के साथ एक छोटा-सा हथौड़ा (Hammer) होता है। उस ढोल के पीछे अर्द्धचन्द्र नालियों (Semi-circular canals) में एक तरल पदार्थ रहता है। यह तरल पदार्थ हमें शरीर के संतुलन रखने में सहायता देता है। जब इस तरल पदार्थ में उथल-पुथल होती है, तो हमें चक्कर आने लगते हैं। इन नालियों के पास ही श्रवण सम्बन्धी स्नायु होते हैं, जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। जब कोई व्यक्ति बोलता है अथवा कोई आवाज होती है, तो शब्द की सूक्ष्म तरंगें कान में प्रवेश करती हैं। उन तरंगों के दबाव से हथौड़ा ढोल पर लगता है और अर्द्धचन्द्र नालियों में वह तरल तरंगित होता है। श्रवण सम्बन्धी स्नायु इस उथल-पुथल को मस्तिष्क तक ले जाते हैं, जहाँ स्नायु-कोष्ठ परिस्फुटित होते हैं और तब हम शब्द अथवा ध्वनि को सुनते हैं। यह सारी प्रक्रिया क्षण भर से भी कम समय में समाप्त हो जाती है। श्रवण-ऐन्द्रिय ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—एक, ध्वनि-ऐन्द्रिय ज्ञान (Noise sensation) तथा दूसरा, स्वर-ऐन्द्रिय ज्ञान (Tone sensation)। ध्वनि अव्यवस्थित तथा विषम शब्द होता है, जैसे गली में गाड़ी के चलने का शब्द ध्वनिमात्र है। इसी प्रकार काष्ठ के टूटने का शब्द भी ध्वनिमात्र है। किन्तु जब हम किसी खाली शीशी को बजाते हैं, तो जो शब्द व्यवस्थित होता है उसे स्वर कहते हैं। संगीत इत्यादि सब स्वर-ऐन्द्रिय ज्ञान हैं।

शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अन्य ऐन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान के सम्बन्ध में व्याख्या की आवश्यकता नहीं। किन्तु इतना कह देना पर्याप्त है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की उत्तेजना स्नायु विशेष के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाई जाती है, और उसी ज्ञानेन्द्रिय सम्बन्धी मस्तिष्क के प्रदेश में स्नायु-कोष्ठों के परिस्फुटित होने से हम विशेष ऐन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऐन्द्रिय ज्ञान के सामान्य लक्षण—उपरोक्त व्याख्या के पश्चात् हम ऐन्द्रिय ज्ञान के कुछ सामान्य लक्षणों पर प्रकाश डाल सकते हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान की प्रत्येक श्रेणी का सम्बन्ध किसी-न-किसी ज्ञानेन्द्रिय से रहता है। बिना ज्ञानेन्द्रिय के हम किसी प्रकार का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अतः ऐन्द्रिय ज्ञान का सर्वप्रथम सामान्य लक्षण विशेष ज्ञानेन्द्रिय का होना है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक ऐन्द्रिय ज्ञान का अपना प्रकार (Kind) होता है। दूसरे स्थान पर प्रत्येक ऐन्द्रिय ज्ञान का सामान्य लक्षण उसका अपना गुण (Quality) माना गया है। उदाहरणस्वरूप, एक ही नीले रंग के ऐन्द्रिय ज्ञान में भी उसकी दो छायाएँ हो सकती हैं। अतः यह छाया का भेद गुण सम्बन्धी भेद है। इसी प्रकार एक ही ध्वनि ऊँचे अथवा नीचे ग्राम पर सुनी जा सकती है। ध्वनि

में यह ग्राम का भेद भी गुणात्मक भेद है। तीसरे स्थान पर ऐन्द्रिय ज्ञान का सामान्य लक्षण विशदता अथवा शक्तिमत्ता (Intensity) कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, एक ही रंग की एक ही छाया में न्यूनाधिक विशदता अथवा शक्तिमत्ता हो सकती है। नीले रंग की एक छाया उज्ज्वल हो सकती है, और वही छाया कुछ धुँधली भी हो सकती है। यह उज्ज्वलता तथा धुँधलेपन का भेद विशदता का कारण है। चौथे स्थान पर प्रत्येक ऐन्द्रिय ज्ञान का सामान्य लक्षण अवधि (Duration) है। जब हम सुनते हैं, तो समय की कुछ-न-कुछ अवधि के लिए सुनते हैं। जब हम देखते हैं, तो समय की कोई-न-कोई अवधि होती है। इसी प्रकार प्रत्येक ऐन्द्रिय ज्ञान कुछ समय तक अवश्य अनुभव किया जाता है। ऐन्द्रिय ज्ञान का पाँचवाँ सामान्य लक्षण विपुलता (Exensity) है। विपुलता का अर्थ विस्तार अथवा व्याप्ति है। उदाहरणस्वरूप, जब हम अपनी एक उँगली गर्म पानी में डालते हैं, तो उष्णता की विपुलता उँगली तक सीमित रहती है। किन्तु जब हम अपना सारा हाथ गर्म पानी में डाल देते हैं, तो उसी उष्णता की विपुलता अथवा व्याप्ति अधिक हो जाती है।

श्री वेबर का सिद्धान्त—प्रत्येक ऐन्द्रिय ज्ञान के अनुभव के लिए विशेष अथवा उचित उत्तेजक पदार्थ का होना आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप, दृष्टि-ऐन्द्रिय ज्ञान के लिए प्रकाश का होना आवश्यक है; श्रवण के लिए शब्द का होना आवश्यक है; इत्यादि। केवल इतना ही नहीं, अपितु जब तक कि उत्तेजक पदार्थ की उचित मात्रा नहीं होगी, तब तक हम ऐन्द्रिय ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते। उदाहरणस्वरूप, यदि हम एक सेर दूध में एक चम्मच चीनी डालें, तो उसमें मिठास का आभास नहीं होगा। यदि आध पाव दूध में एक चम्मच चीनी डाली जाय, तो हम मिठास का अनुभव कर सकते हैं। जो थोड़ी-से-थोड़ी मात्रा हमें किसी भी ऐन्द्रिय ज्ञान को देने के योग्य होती है, उसको ऐन्द्रिय ज्ञान का प्रवेश-द्वार (Threshold) कहा जाता है। किन्तु जब हम आध पाव दूध में एक से दो, दो से तीन, तीन से चार चम्मच चीनी डालते जायँ, तो हम एक ऐसी अवस्था पर पहुँच जायँगे कि चीनी की मात्रा बढ़ाने पर भी मिठास के ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता आगे नहीं बढ़ सकेगी। ऐन्द्रिय ज्ञान की ऐसी सीमा को परिपूर्णता अथवा शिखर (Acme) कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐन्द्रिय ज्ञान में जितनी उत्तेजक पदार्थ की मात्रा बढ़ती जायगी, उतनी ही ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता भी बढ़ती चली जायगी। किन्तु इन दोनों की न्यूनाधिकता का परस्पर सम्बन्ध एक विशेष सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप, एक व्यक्ति, जिसके हाथ पर पाँच सेर का भार है, एक तोला भार और बढ़ जाने से कुछ अन्तर का अनुभव नहीं करेगा। किन्तु, यदि उसी व्यक्ति के हाथ में केवल एक तोला बोझ हो, तो एक तोला और बढ़ाने से, वह तुरन्त इस ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता में अन्तर का अनुभव करेगा। उत्तेजक पदार्थ की मात्रा तथा ऐन्द्रिय ज्ञान

की विशदता के इस परस्पर सम्बन्ध को श्री वैबर ने नियमबद्ध किया है। उसके सिद्धान्त के अनुसार यदि ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता को हम गणित के नियमानुसार अर्थात् १, २, ३, ४, ५ की श्रृङ्खला में बढ़ाना चाहें तो हमें, उत्तेजक पदार्थ की मात्रा को रेखागणित-नियमानुसार अर्थात् १, २, ४, ८, १६ इत्यादि की श्रृङ्खला में बढ़ाना होगा। एक उदाहरण के द्वारा हम इस नियम को अधिक स्पष्ट करेंगे। मान लो कि मेरे हाथ पर एक सेर बोझ की मात्रा है, और मेरी भार सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता १ A है। यदि मैं इस विशदता को २ A करना चाहता हूँ, तो मैं उतना ही बोझ अधिक अपने हाथ पर रखूँगा जितना कि मैंने पहले उठाया हुआ है, क्योंकि यदि मैं केवल आधा सेर बोझ और रख दूँ, तो भार को विशदता १ मात्रा नहीं बढ़ सकती। अर्थात् मैं १A विशदता बढ़ाने के लिए १ सेर बोझ अधिक रखूँगा। अब यदि मैं २ सेर बोझ पर १ सेर और रख दूँ, तो मेरी भार की विशदता १ मात्रा नहीं बढ़ सकती, जैसा कि ऊपर के उदाहरण में १ सेर बोझ के होते हुए, आधा सेर बोझ और बढ़ाने से विशदता की मात्रा आधी ही बढ़ सकती थी। मुझे भार की विशदता २ A से ३ A करने के लिए अथवा १ A विशदता बढ़ाने के लिए उतना ही बोझ अधिक रखना होगा, जितना कि मेरे हाथ पर पहले रखा हुआ है। अर्थात् मुझे २ सेर बोझ अधिक रखना होगा। इस प्रकार मेरे हाथ पर कुल बोझ ४ सेर हो जायगा। अतः भार की विशदता ३ A बनाने के लिए मुझे कुल बोझ ३ सेर नहीं, अपितु चार सेर रखना होगा। इसी प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता ४ A प्राप्त करने के लिए उत्तेजक पदार्थ की मात्रा ८ सेर, ५ A के लिए १६ सेर, ६ A के लिए ३२ सेर इत्यादि बढ़ानी होगी। इसी नियम को नीचे दिये हुए चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र ५.

इस सिद्धान्त को श्री वैबर के नाम पर वैबर सिद्धान्त अथवा वैबर नियम कहा जाता था, किन्तु एक और मनोवैज्ञानिक श्री फ़ैचनर (Fechner) ने भी इस सिद्धान्त में वृद्धि की थी, इसलिए यह अब वैबर फ़ैचनर (Weber Fechner) सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त का प्रभाव हम अपने जीवन में प्रतिदिन अनुभव करते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार हम किसी व्यक्ति के शरीर का आकार
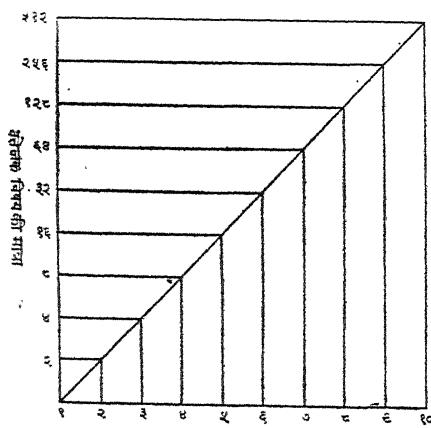
एक इंच बढ़ जाने से विशेष परिवर्तन अनुभव नहीं करते, किन्तु यदि उसी व्यक्ति की नाक एक इंच और बढ़ जाय, तो हम तुरन्त इस अन्तर को अनुभव करेंगे।

ऐन्द्रिय ज्ञान की सामर्थ्य—क्योंकि ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही शिशु सर्वप्रथम अनुभव को प्राप्त करता है और आगे चलकर यही ऐन्द्रिय ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा विचार इत्यादि का आधार बनता है। इसलिए शिशु जो अनुभव ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा प्राप्त करता है, वह उसके मानसिक विकास में बड़ा महत्त्व रखता है। शिशु आदिकाल से ही ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। मनोविज्ञान में खोज करने वालों ने सिद्ध किया है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य (Acuity) भिन्न-भिन्न होता है। यों तो सामान्य बालक ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने में सामान्य सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु कुछ बालक ऐसे भी होते हैं जिनका सामर्थ्य असामान्य होता है। बालकों के सामर्थ्य की परीक्षा भी की जा सकती है। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम एक ही विशदता के उत्तेजक पदार्थ का भिन्न-भिन्न बालकों पर परीक्षण करके सामान्य सामर्थ्य की विशेष मात्रा निर्धारित कर देनी चाहिए। इसके पश्चात् उसी निर्धारित मात्रा के आधार पर प्रत्येक बालक के ऐन्द्रिय-ज्ञान की सामर्थ्य निश्चित् की जा सकती है। दृष्टिज्ञान की सामर्थ्य की परीक्षा के लिए बहुत से नक्शे बनाये जाते हैं। एक नक्शे में बहुत बड़े बिन्दुओं से लेकर छोटे-से-छोटे बिन्दुओं के समूह भिन्न संख्या में ऊपर से लेकर नीचे तक अंकित किये जाते हैं। उस नक्शे को दीवार पर लटका दिया जाता है। जिस बालक की सामर्थ्य की परीक्षा करनी हो, उसको उस नक्शे से कुछ दूरी पर खड़ा कर दिया जाता है। उसके पश्चात् मोटे-से-मोटे बिन्दुओं के समूह से आरंभ करके छोटे-से-छोटे बिन्दुओं के समूह के बिन्दुओं की संख्या बालक से पूछी जाती है। जहाँ तक बालक बिन्दुओं के समूह की संख्या ठीक-ठीक बतलाता चला जाता है वहाँ तक ही उसके दृष्टिज्ञान की सामर्थ्य की मात्रा निर्धारित की जाती है। इसी प्रकार श्रवणज्ञान की सामर्थ्य भी निर्धारित की जा सकती है। एक घड़ी को लेकर धीरे-धीरे कानों से उतनी दूर ले जाया जाता है, जहाँ तक कि उसकी टिक-टिक की आवाज प्रायः लुप्त हो जाती है।

ऐन्द्रिय ज्ञान के दोष—शिक्षक के लिए यह जानना आवश्यक है कि ऐन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी त्रुटियों तथा रोगों के कारण, बालक की शिक्षा पर कितना प्रभाव पड़ सकता है। बहुत से ऐसे ऐन्द्रिय ज्ञान के रोग हैं जो बालक की शिक्षा के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होते हैं। दृष्टिज्ञान के बारे में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि एक व्यक्ति में निम्नलिखित दोष हो सकते हैं:—

१. पूर्ण अन्धापन (Complete blindness)।
२. एक आँख का अन्धापन (Partial blindness)।
३. निकटवर्ती दृष्टि (Short-sightedness)।

४. दूरवर्ती दृष्टि (Long-sightedness)।

५. वर्णान्धता (Colour-blindness)।

ये सब दोष बालक की शिक्षा की योग्यता पर न्यूनाधिक हानिकारक प्रभाव डालने वाले हैं और केवल प्रथम दोष ही बिना विशेष जाँच के जाना जा सकता है। शेष सब दोष सम्भवतः एक साधारण बालकों की श्रेणी में उपस्थित हो सकते हैं। पूर्ण अन्धेपन के लिए विशेष प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं की आवश्यकता है, जिसमें कि केवल अन्धे बालकों को शिक्षा दी जाय। ऐसे विद्यालय प्रायः प्रत्येक प्रगतिशील देश में स्थापित हो चुके हैं, उनमें विशेष शिक्षा-पद्धति के द्वारा अन्धे बालकों को पढ़ना-लिखना सिखाया जाता है। दूरवर्ती दृष्टि तथा निकटवर्ती दृष्टि के दोष, विशेष शीशे के ताल लगाने से दूर किये जा सकते हैं और इस प्रकार बालक की शिक्षा निर्बाध की जा सकती है। वर्णान्धता जन्मजात् होती है और उसकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती। यह दोष भी शिक्षा में हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इसी दोष के कारण एक विश्वविद्यालय के छात्र के भविष्य पर बड़ा भारी आघात हुआ। इस छात्र को अपनी वर्णान्धता का ज्ञान नहीं था। उसने रसायन-शास्त्र में विशेष अध्ययन किया, किन्तु एक वर्ष के अध्ययन के पश्चात्, जब वह प्रयोगशाला में आया, तो उसे ज्ञात हुआ कि वह वर्णान्ध है। इस प्रकार एक वर्ष का परिश्रम निरर्थक गया। यदि उसे इस बात का ज्ञान पहले हो जाता, तो वह अपने जीवन का एक अमूल्य वर्ष व्यर्थ में न खोता। श्रवण-ऐन्द्रिय ज्ञान के सम्बन्ध में जो बालक पूर्णतया श्रवणज्ञान से वंचित हों अथवा बहरे हों, उनके लिए भी विशेष शिक्षण-संस्थाओं की आवश्यकता है। सौभाग्यवश, आधुनिक प्रयोगों ने यह सिद्ध किया है कि सब बहरे बालक गूँगे नहीं होते। आधुनिक शिक्षा की रीतियों के प्रयोग से ऐसे बालकों को बोलना सिखाया जा सकता है। अपूर्ण बहरे बालक प्रायः भूल से मूर्ख समझे जाते हैं और उनको पढ़ाने के लिए बहुत से असफल प्रयत्न किये जाते हैं, जब कि केवलमात्र उनको श्रेणी में शिक्षक के निकट बिठाकर उनकी सब कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है। अतः यदि बालक की ऐन्द्रिय ज्ञान की साधारण त्रुटियों को जान लिया जाय, तो उसकी शिक्षा काफ़ी सीमा तक सहज बनाई जा सकती है।

ऐन्द्रिय ज्ञान का शिक्षण (Sense training)—आधुनिक मनोविज्ञान में ऐन्द्रिय ज्ञान के शिक्षण पर अधिक जोर दिया जाता है। इस विषय की व्याख्या करने से पहले हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि ऐन्द्रिय ज्ञान के शिक्षण का अर्थ ऐन्द्रिय ज्ञान के सामर्थ्य की शिक्षा नहीं है। जहाँ तक सामर्थ्य की वृद्धि का प्रश्न है, अभी तक उसमें किसी प्रकार की शिक्षा लाभदायक नहीं हो सकी। प्रत्येक व्यक्ति के ऐन्द्रिय ज्ञान की सामर्थ्य जन्मजात् होती है। ऐन्द्रिय ज्ञान के शिक्षण में हमारा उद्देश्य शिशु के ऐन्द्रिय अनुभव को, जहाँ तक हो सके, विस्तृत तथा विभिन्न बनाना है। क्योंकि शिशु की

इन्द्रियाँ ही केवलमात्र उसको वातावरण का ज्ञान देती हैं और ऐन्द्रिय ज्ञान ही उसके प्रत्यक्ष ज्ञान, उसकी कल्पना तथा उसके विचार की आधारशिला होता है इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अधिक-से-अधिक तथा विभिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान का अनुभव शिशु को करायें। ऐन्द्रिय ज्ञान के शिक्षण के पक्षपाती प्रायः इस विषय में भूल कर जाते हैं। उनके विचार में, शिशु को भिन्न प्रकार का दृष्टि ज्ञान देने के लिए उसके वातावरण में, जितना हो सके वर्णों की भिन्न-भिन्न छायाओं का प्रदर्शन करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा करने से शिशु को भिन्न प्रकार के रंगों का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होगा। किन्तु इसके द्वारा, उसकी शिक्षा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। एक अनुभव को शिक्षा के दृष्टिकोण से उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उस अनुभव के द्वारा, शिशु किसी-न-किसी रूप में प्रतिक्रिया करे और वह प्रतिक्रिया शिशु के किसी आवश्यक प्रयोजन से सम्बन्धित होनी चाहिए। इसी प्रकार वर्णों की तुलना करना शिक्षाप्रद है, क्योंकि ऐसा करने में शिशु स्पष्ट रूप में उनके प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है। यदि एक बालक केवल भिन्न प्रकार के वर्णों का वर्गीकरण कर रहा है, क्योंकि उसे ऐसा करने को कहा गया है, तो इस वर्गीकरण से उसको कुछ लाभ न होगा; न ही वह इससे कुछ सीख सकेगा। इसके विपरीत जब शिशु अपनी ही किसी समस्या को सुलझाने के लिए अथवा किसी दृश्य का चित्रण करने के लिए वर्णों की तुलना करता है, तो यह वर्गीकरण उसके लिए शिक्षाप्रद होता है। इसी प्रकार मांसपेशियों के ऐन्द्रिय ज्ञान का शिक्षण भी हो सकता है। शिक्षकों को चाहिए कि वे बालक की आयु तथा योग्यता के अनुसार ही उसको मांसपेशियों की शिक्षा दें। मांसपेशियाँ हमें गति अथवा हरकत का ज्ञान देती हैं। एक छोटे शिशु में बड़ी विपुलता (extensity) की गति जानने की योग्यता अधिक विकसित होती है। इसके विपरीत सूक्ष्म गति को जानने की योग्यता कम होती है। दूसरे शब्दों में उसे हाथ की कलाई की गति की अपेक्षा बाहु की गति का ज्ञान अधिक सरलता से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उसे उँगली की गति का ज्ञान कम होता है। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है, उसे सूक्ष्म गतियों का ज्ञान होने लगता है। अतः शिक्षा के दृष्टिकोण से बालकों की शिक्षा बड़ी गतियों से आरम्भ करनी चाहिए और क्रमशः सूक्ष्म गतियों पर आना चाहिए। मांसपेशियों की शिक्षा इस दृष्टिकोण से दृष्टि की शिक्षा से समानता रखती है। इसी कारण छोटे शिशुओं को सूक्ष्म सिलाई की शिक्षा देना हानिकारक है। शिक्षक को चाहिए कि सिलाई और चित्रण में वह इसी नियम का पालन करता हुआ बालकों को काले तख्ते पर बड़ी गतियों से आरम्भ करके पुस्तकों में छोटी-छोटी गतियों की शिक्षा देने में प्रवेश करे।

अभ्यास

१. ऐन्द्रिय ज्ञान अथवा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान का क्या अर्थ है और उसका हमारे

जीवन में क्या महत्त्व है ?

२. ऐन्द्रिय ज्ञान के क्या सामान्य लक्षण हैं ? प्रत्येक लक्षण की पूर्ण व्याख्या करो।
३. ऐन्द्रिय ज्ञान को कितनी श्रेणियों में बाँटा गया है और उस विभाजन का क्या आधार है ?
४. दृष्टि सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान की पूर्ण व्याख्या करते हुए नेत्र का चित्र खींचो और उसके मुख्य अंगों की पूर्ण व्याख्या करो।
५. श्रवण सम्बन्धी ऐन्द्रिय ज्ञान की पूर्ण व्याख्या करो। क्या कान के द्वारा केवल श्रवण ज्ञान का ही आभास होता है ?
६. ऐन्द्रिय ज्ञान की विशदता के सम्बन्ध में महाशय वैबर ने जो सिद्धान्त निर्धारित किया है, उसकी व्याख्या करो।
७. ऐन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी दोषों पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि इन दोषों के ज्ञान से शिशु की शिक्षा में क्या सहायता मिल सकती है ?
८. ऐन्द्रिय ज्ञान की शिक्षा का क्या अर्थ है ? किस सीमा तक शिशु के ऐन्द्रिय ज्ञान को शिक्षित किया जा सकता है ?

तेरहवाँ अध्याय

अवधान (Attention)

अवधान का शिक्षा-मनोविज्ञान में स्थान—अवधान अथवा ध्यान का विषय शिक्षा-मनोविज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। अध्यापक को श्रेणी में बालकों के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करना होता है और उसे स्वयं भी श्रेणी के बालकों की ओर ध्यान देना पड़ता है। यदि अध्यापक गणित का प्रश्न समझाते समय निरन्तर बालकों के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित न कर सके, तो वे बालक गणित के प्रश्नों को कदापि न समझ सकेंगे। इसी प्रकार इतिहास पढ़ाते समय भी यदि किसी बालक का ध्यान इधर-उधर हो जाय, तो वह अध्यापक के द्वारा सुनाई गई घटनाओं को स्मरण नहीं रख सकता। अतः अध्यापक का मुख्य उद्देश्य पढ़ाते समय बालकों के ध्यान को निरन्तर अपनी ओर आकर्षित किये रखना है। सबसे सफल अध्यापक वही माना जाता है, जो कि जटिल-से-जटिल विषय पढ़ाते समय भी छात्रों को ध्यान-मग्न रखे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अध्यापक के लिए यह जानना आवश्यक है कि ध्यान तथा अवधान का क्या अर्थ है? उसकी क्या उपाधियाँ हैं तथा किन उपायों से अवधान को विशेष मार्ग पर लगाया जा सकता है?

अवधान का स्वरूप—किसी वस्तु के प्रति अवधान देने का अर्थ उसके विषय में तीव्र रूप से चैतन्य होना है। वास्तव में चेतना की चरम सीमा का नाम अवधान है। साधारण चेतना में हमारा ध्यान किसी विशेष वस्तु में एकाग्र नहीं होता। इस अवस्था में प्रत्येक वस्तु जो चेतना के क्षेत्र में होती है, सामान्यरूप में हमारे सामने, हमारे ज्ञान के क्षेत्र में उपस्थित रहती है। किन्तु जिस समय इन वस्तुओं में से किसी भी एक वस्तु अथवा विचार के प्रति हम विशेष रूप से आकर्षित होकर, उसमें अपनी चेतना को एकाग्र करते हैं, तो हमारा अवधान केवल उसी लक्ष्य में केन्द्रित हो जाता है और अन्य वस्तुओं तथा विचारों से हट जाता है। वे वस्तुएँ तथा विचार भी हमारे चेतना के क्षेत्र में अवश्य रहते हैं, किन्तु उनका हमें स्पष्ट बोध नहीं होता। अवधान के क्षेत्र में आई हुई वस्तु का बोध बहुत ही स्पष्ट तथा तीव्र होता है। उदाहरणस्वरूप, जब हम अनवधान (Inattention) की अवस्था में होते हैं, तो अनेक प्रकार के विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं। कभी हमारा विचार किसी मित्र से मिलने का होता है; किन्तु एक क्षण के बाद हमें सिनेमा जाने का विचार आता है; तत्काल ही हमारे मन में पढ़ने का विचार उत्पन्न होता है इत्यादि। इस प्रकार चेतना की तरंगों का ताँता बँध जाता है और चेतना के बहाव का एक ही स्तर रहता है, जैसा कि नीचे दिखाया गया है—

किन्तु जब इस प्रकार एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे विचार की ओर हम आकर्षित हो रहे होते हैं, तो सहसा उन विचारों में से एक हमारे मन पर अधिक प्रभावशाली हो

चेतना के बहाव का स्तर (अनवधान की अवस्था में)

चित्र ६.

जाता है और हम उसी में ध्यान-मग्न हो जाते हैं। इस अवधान की अवस्था में चेतना के बहाव के दो स्तर हो जाते हैं। एक तो उन विचारों का स्तर होता है, जिन विचारों में से एक विचार चुना जाकर, हमारे अवधान को आकर्षित करता है। इस स्तर को अवधान दिये जाने योग्य विचारों का स्तर (The level of the ideas attended from) कहते हैं। दूसरे स्तर को अवधानान्तर्गत अथवा अवधान दिये गये विचार का स्तर (The level of the idea attended to) कहते हैं। चेतना के इन दो स्तरों का प्रदर्शन नीचे दिये गये आकार के द्वारा किया जा सकता है—
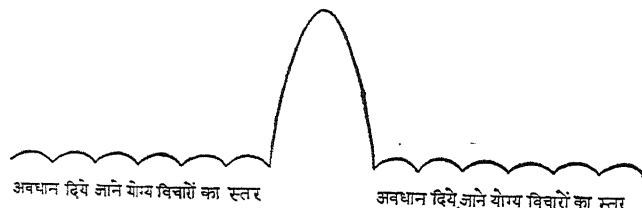
चित्र ७.

ऊपर दिये गये उदाहरण के अनुसार जब भिन्न-भिन्न विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं और जब हम उनमें से एक विचार को लेकर उसी में लीन हो जाते हैं, तो हम अवधान की अवस्था में होते हैं। मान लो कि हमारे मन में परीक्षा का विचार आते ही पढ़ने की प्रेरणा होती है और हम पुस्तक लेकर पढ़ने में लीन हो जाते हैं। उस समय सिनेमा जाने का विचार तथा मित्र से मिलने का विचार इत्यादि अवधान दिये जाने योग्य विचारों के स्तर पर होते हैं और इसके विपरीत पढ़ने का विचार अवधानान्तर्गत विचार के स्तर पर होता है।

अवधान और चेतना का सम्बन्ध—अवधान के सम्बन्ध में ऊपर की व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि अवधान का चेतना से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चेतना का क्षेत्र अवधान की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। चेतना में अवधान दिये गये विचार के अतिरिक्त अवधान दिये जाने योग्य विचारों का स्तर भी उपस्थित रहता है। अतः अवधान का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। किन्तु जो विचार चेतना में उपस्थित हैं,

वे अवधान का विषय भी बन सकते हैं। न केवल इतना, अपितु चेतना एवं अर्द्ध-चेतना में उपस्थित विचार निरन्तर अवधानान्तर्गत होते रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अवधान में केवल चुने हुए विचार ही उपस्थित रहते हैं, क्योंकि निर्वाचन (Selectivity) अवधान का विशेष लक्षण है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि निरन्तर परिवर्तन (Shifting) भी अवधान का ही लक्षण है। अतः जो विचार अवधानान्तर्गत होता है वह अवधान में काफ़ी समय तक स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए जो विचार अवधान के विषय होते हैं, वे कुछ समय के पश्चात्, चेतना तथा अर्द्ध-चेतना में परिवर्तित हो सकते हैं। इस प्रकार चेतना और अवधान अन्योन्याश्रित होते हैं। जब हम किसी एक विचार की ओर अवधान दे रहे होते हैं, तो अन्य विचार हमारी चेतना से लुप्त नहीं हो जाते, अपितु उसमें उपस्थित रहते हैं। श्रेणी में जब छात्र शिक्षक के वक्तव्य की ओर ध्यान देता है, तो खेलने इत्यादि के विचार उसकी चेतना में गुप्त रूप में अथवा निर्बल अवस्था में उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार जब छात्र शिक्षक के पढ़ाने की ओर ध्यान नहीं दे रहा होता, तो वह किसी-न-किसी अन्य वस्तु की ओर अवश्य ध्यान दे रहा होता है, जब कि शिक्षक का पढ़ाना निर्बल रूप में उसकी चेतना में उपस्थित रहता है। ऐसी अवस्था में शिक्षक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह छात्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करे। किन्तु ऐसा करने के लिए उसे अवधान का बाहरी स्वरूप जान लेना चाहिए।

अवधान के शारीरिक लक्षण—अभी तक हमने अवधान के आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या की है। अवधान की अवस्था में केवल हमारी चेतना में ही नहीं, अपितु हमारी शारीरिक अवस्था में भी विशेष परिवर्तन होते हैं। अवधान की अवस्था में हम विशेष प्रकार का शारीरिक व्यवहार करते हैं। यह विशेष शारीरिक व्यवहार तीन रूपों में किया जाता है। प्रथम, अवधान के समय हमारे शरीर के सब अंग हमारे नियन्त्रण में होते हैं और स्तम्भित-से हो जाते हैं। उस समय हम किसी प्रकार की अनावश्यक शारीरिक गति नहीं करते। हमारे शारीरिक व्यवहार का दूसरा स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों की अनुकूलता का व्यवहार है। अवधान में हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों को अवधान के विषय के अनुकूल बनाते हैं। यदि अवधान का विषय कोई देखने योग्य वस्तु हो, तो हम आगे को झुक जाते हैं और जहाँ तक हो सके उस वस्तु के निकट रहने का प्रयत्न करते हैं। यदि अवधान का विषय शब्द अथवा ध्वनि हो, तो हम अपने कान उस विषय के निकट ले जाने की चेष्टा करते हैं। अवधान में हमारे शारीरिक व्यवहार का तीसरा स्वरूप बाधक विषयों के प्रतिकार का व्यवहार है। हम उन सब विषयों को दूर करने की चेष्टा करते हैं, जो हमारे अवधान के विषय में बाधक होते हों। उदाहरणस्वरूप, जब हम किसी विषय को ध्यानपूर्वक देख रहे हों, तो हम प्रायः अपना श्वास कुछ समय के लिए रोक लेते हैं, ताकि श्वास की गति

के कारण अथवा छाती के फैलाव के कारण हमारे देखने के विषय में बाधा न पड़े। इसी प्रकार जब हम ध्यानपूर्वक सुन रहे हों, तो प्रायः आँखें बन्द कर लेते हैं ताकि दृष्टिगोचर पदार्थ हमारे अवधान में बाधक न हों। अवधान के शारीरिक व्यवहार का सबसे अच्छा उदाहरण उस समय मिलता है जब कि श्रोतागण किसी वक्ता के रोचक भाषण को ध्यान-पूर्वक सुन रहे हों। उस समय किसी प्रकार की हलचल नहीं होती। सभी श्रोता चुपचाप, बिना किसी हरकत के, मानो प्रतिमा की भाँति बैठे हुए होते हैं। कुछ श्रोता अपनी ठोडी को मुट्ठी का आश्रय देकर बैठे होते हैं, कुछ आगे को झुके होते हैं, तो कुछ सर को एक ओर झुकाकर, मानो वक्ता के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं इत्यादि। यदि भाषण रोचक न हो, तो लोगों का अवधान वक्ता की ओर आकर्षित नहीं होता और उनका शारीरिक व्यवहार भी भिन्न होता है। अवधान के समय प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार सजग होता है, मानो उसका शरीर चौकन्ना हो गया हो। किन्तु अनवधान की अवस्था में शरीर ढीला-ढाला-सा हो जाता है। जो व्यक्ति अवधान की अवस्था में नहीं होता; उसकी आँखें मानो शून्य-सी दीख पड़ती हैं। अध्यापक को छात्रों के शारीरिक व्यवहार से तुरन्त पता चल सकता है कि अमुक छात्र ध्यानपूर्वक पढ़ रहा है और अमुक केवल ध्यान-मग्न होने का बहाना कर रहा है। अतः अवधान का बाहरी स्वरूप शिक्षक को छात्रों की रुचि तथा अवधान के जानने में बहुत ही सहायक होता है।

अवधान के भिन्न रूप—मनोवैज्ञानिकों ने अवधान के तीन रूप अथवा भेद बतलाए हैं—

१. निर्विकल्पक अवधान अथवा स्वच्छन्दावधान (Passive attention)।
२. पूर्व कल्पित अवधान अथवा ऐच्छिक अवधान (Active attention)।
३. गौण निर्विकल्पक अवधान अथवा गौण स्वच्छन्दावधान (Secondary-passive attention)।

निर्विकल्पक अवधान—जैसा कि इस अवधान के नाम से प्रकट होता है, यह बिना किसी प्रयास के ही हमारे द्वारा किया गया अवधान है। ऐसे अवधान में हम अपने आप ही अवधान देने योग्य विषय अथवा विचार की ओर आकर्षित हो जाते हैं। चाहे हमारी इच्छा हो चाहे अनिच्छा हो हम स्वतः ही ध्यान-मग्न हो जाते हैं। मान लो कि हम अपने कमरे में बैठे अपने मित्रों से वार्त्तालाप कर रहे हैं और सहसा गली में जोर का धमाका होता है। बस, हम अपनी सब क्रिया को छोड़कर अवश्य उस धमाके की ओर अवधान देंगे। इसी भाँति सब प्रकार के विशद विषय हमारे अवधान को अकस्मात् ही आकर्षित करते हैं। मानो हम उस विषय के आवेग में बह जाते हैं और हम अनायास आकर्षित होते हैं। क्योंकि इस अवधान में हमें विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता, इसलिए इसको प्रयास-रहित अवधान भी कहते हैं। क्योंकि इसमें हमें किसी प्रकार की शिक्षा की

आवश्यकता नहीं होती, इसलिए इसको मौलिक अवधान (Primary attention) का नाम भी दिया जाता है। शैशवकाल में हमारा अवधान प्रायः इसी स्तर पर रहता है। यदि छोटा-सा शिशु रो रहा हो, तो हम घंटी बजाकर अथवा दरवाज़े को थपकी देकर शिशु के अवधान को रोने से हटा सकते हैं। और उसे घंटी इत्यादि की झंकार में अनायास लगा सकते हैं। पाँच-छः वर्ष की आयु तक शिशु का अवधान प्रायः प्रयास-रहित ही होता है। इस अवस्था तक शिक्षक को शिशु से यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि वह अवधान में प्रयास कर सकेगा। अतः छोटी आयु वाले शिशुओं को पुस्तकें पढ़ाने की अपेक्षा आकर्षक खिलौनों तथा सुन्दर चित्रों के द्वारा उसके अनुभव को विस्तृत करना चाहिए।

पूर्व कल्पित अथवा एच्छिक अवधान—अवधान में हमें ध्यान देने के लिए पूरा प्रयास करना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु अवधान देने से पहले हम अवधान के विषय के गुण और दोषों को अच्छी तरह से जाँच कर लेते हैं और पूर्ण निश्चय करके ही अपनी इच्छा के अनुसार अवधान देते हैं। इस इच्छा-शक्ति के प्रयोग के कारण तथा विचार-विमर्श के कारण इस अवधान को पूर्व कल्पित अथवा ऐच्छिक माना गया है। परीक्षा के लिए किसी पुस्तक का पढ़ना पूर्व कल्पित अथवा ऐच्छिक अवधान है। इस अवधान में हम न केवल पढ़ने की ओर ध्यान देने के लिए प्रयास करते हैं, अपितु सब बाधक विषयों का बहिष्कार करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। यदि गली-मोहल्ले का शब्द बाधक होता है, तो हम द्वार बन्द कर लेते हैं और अपने मन को पुस्तक में एकाग्र करने का यत्न करते हैं। प्रयास के कारण इस अवधान को प्रयासात्मक अवधान भी कहा जाता है। बालक छः-सात वर्ष की अवस्था से पहले पढ़ने में प्रयासात्मक अवधान नहीं दे सकता। आगे चलकर भी कुछ वर्षों तक अवधान में प्रयास करने के लिए बालक को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और बहुत यत्न के पश्चात् वह इस कार्य में सफल होता है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता है, और किशोरावस्था में प्रवेश करता है त्यों-त्यों उसमें प्रयासात्मक अवधान की मात्रा बढ़ती जाती है।

गौण निर्विकल्पक अथवा गौण स्वच्छन्द अवधान—प्रकृति ने मनुष्य को प्रयास करने की शक्ति दी है और साथ ही प्रयास करने पर उसके परिश्रम का फल भी दिया है। जब हम किसी विषय पर प्रयास करके अवधान देते हैं और बाधक विषयों को दूर करने के लिए बहुत कठिनाइयों का सामना करते हैं, तो धीरे-धीरे हमें कम प्रयास करना पड़ता है, और एक समय ऐसा आ जाता है कि विना प्रयास के ही हम उस विषय की ओर अवधान दे सकते हैं, जिस विषय पर अवधान देने के लिए हमें आरम्भ में कठिन परिश्रम करना पड़ा था। ऐसी अवस्था में हमारा पूर्व कल्पित अवधान गौण निर्विकल्पक अवधान में परिवर्तित हो जाता है। ऊपर के उदाहरण में, जब हम प्रयास करने के पश्चात् पुस्तक

पढ़ने में लीन हो जाते हैं, तो गली के शब्द इत्यादि बाधक विषयों को दूर करने के लिए हमें प्रयास ही नहीं करना पड़ता; उस समय ये बाधक विषय हमारे अवधान में बाधा नहीं डाल पाते। केवल प्रौढ़ावस्था में ही हमारे जीवन में गौण निर्विकल्पक अवधान की प्रधानता होती है। हमें गौण निर्विकल्पक अवधान तथा मौलिक निर्विकल्पक अवधान के भेद को सदैव स्मरण रखना चाहिए। मौलिक अवधान में तो हमें कदापि प्रयास नहीं करना पड़ता; गौण निर्विकल्पक अवधान में आरम्भ में तो प्रयास करना नितान्त आवश्यक है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् हमें प्रयास को छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि हमारी मानसिक एकाग्रता इतनी तीव्र हो जाती है कि हमें किसी प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती।

अवधान की उपाधियाँ (Conditions of attention)—हमारे चेतना-क्षेत्र में जितने भी विचार तथा विषय होते हैं, वे सब-के-सब अवधानान्तर्गत नहीं होते। बहुत से ऐसे विषय होते हैं, जिनको हम लेशमात्र भी ध्यान में नहीं लाते। इसके विरुद्ध बहुत से विषय और विचार ऐसे होते हैं, जो कि तुरन्त हमारे अवधान को आकर्षित करते हैं। उनमें ऐसी विशेषता होती है कि हम उपेक्षा कदापि नहीं कर सकते। अतः शिक्षक के लिए उन विशेषताओं तथा लक्षणों का जानना आवश्यक है, जो कि हमारे अवधान को सुविधा देते हैं और उसे तुरन्त आकर्षित करते हैं। मनोवैज्ञानिक भाषा में इन विशेषताओं अथवा लक्षणों को अवधान की उपाधियाँ कहते हैं। क्योंकि अवधान की प्रक्रिया का आधार अवधान करने वाला व्यक्ति तथा अवधान करने योग्य विषय दोनों ही होते हैं, इसलिए अवधान की उपाधियाँ भी दो प्रकार की होती हैं। एक तो वे उपाधियाँ हैं, जो कि अवधान करने वाले से सम्बन्धित रहती हैं। ये उपाधियाँ प्रायः उसके व्यक्तित्व, उसकी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था और उसकी रुचि इत्यादि पर निर्भर रहती हैं। इन उपाधियों को अन्तरात्मक उपाधियाँ (Subjective conditions) कहते हैं। इसके विपरीत कुछ विषयों में ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो हमें उनकी ओर अवधान देने के लिए विवश करती हैं। ऐसी विशेषताएँ बाह्यात्मक अथवा विषयगत उपाधियाँ (Objective conditions) कहलाती हैं। अब हम इन दो प्रकार की उपाधियों की क्रमशः व्याख्या करेंगे।

अन्तरात्मक उपाधियाँ

अवधान और रुचि—यों तो अवधान हमारी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था पर काफ़ी सीमा तक निर्भर है। जब तक हम स्वस्थ न हों, जब तक हम चिन्ता, शोक इत्यादि से मुक्त न हों, तब तक हम किसी भी वस्तु की ओर अवधान नहीं दे सकते। बालकों को पाठ की ओर तभी आकर्षित किया जा सकता है, जब कि उनकी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था सामान्य हो, और वे थकावट का अनुभव न कर रहे हों। किन्तु कई बार शारीरिक

रुकावटों के होते हुए भी उनके अवधान को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। ऐसा तभी हो सकता है, जब कि उनकी रुचि को प्रेरित किया जाय। रुचि अवधान का मुख्य आधार माना गया है। रुचि का अवधान से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, वे एक दूसरे से इतने मिश्रित हैं कि उनमें अन्तर बतलाया नहीं जा सकता। हम प्रायः उसी विषय की ओर अवधान देते हैं, जिसमें हमारी रुचि होती है। एक छात्र मनोविज्ञान के पढ़ने में अवधान इसलिए देता है, क्योंकि यह विषय उसको रुचिकर प्रतीत होता है। किन्तु रुचि स्वयं भी अवधान पर आश्रित हो सकती है। यदि वही छात्र कभी मनोविज्ञान के विषय पर अवधान ही न देता, तो सम्भवतया उसको यह विषय रोचक प्रतीत हो न होता। यदि छात्र पाठशाला में, पाठ को अवधान देकर पढ़ें, तो पाठ्य-विषय उनको रुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। अतः रुचि तथा अवधान परस्पर सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित हैं।

रुचि की व्याख्या—रुचि शब्द का अर्थ भी बहुत विस्तृत है। हम प्रायः उसी विषय को रुचिकर अथवा रोचक समझते हैं, जो केवल हमें आनन्द देने वाला हो। किन्तु रुचि की यह परिभाषा अवैज्ञानिक तथा अशुद्ध है। रुचि का अर्थ प्रभावशाली अथवा महत्त्वशाली है। जो विषय हम पर प्रभाव डालने वाला है, जिस विषय का हमारे जीवन में महत्त्व है वही विषय हमारी रुचि का पात्र होता है। अतः हम न केवल उन विषयों की ओर अवधान देते हैं, जो कि हमारे लिए लाभदायक होते हैं, किन्तु हम उन विषयों की ओर भी ध्यान देते हैं, जो कि हमें हानि पहुँचाने वाले हों। हम बम-विस्फोट के शब्द को सुनते ही चौंक उठते हैं और धमाके की ओर ध्यान इसलिए देते हैं कि कहीं यह धमाका हमारे लिए हानिकारक सिद्ध न हो। हमारी आत्मरक्षा की मूल प्रवृत्ति हमें हानिकारक विषयों की ओर आकर्षित करती है। अतः हमारी रुचि सुखदायक तथा दुःखदायक दोनों प्रकार के विषयों की ओर हो सकती है। अवधान में हमारी रुचि छः प्रकार की हो सकती है—(१) जन्मजात् रुचि, (२) अर्जित रुचि, (३) सैद्धान्तिक रुचि, (४) व्यावहारिक रुचि, (५) निकटवर्ती रुचि तथा (६) दूरवर्ती रुचि। जन्मजात् रुचि वह रुचि है, जो कि बिना सीखने के ही हम में उपस्थित रहती है और हमारे अवधान को विशेष विषय की ओर आकर्षित करती है। जब हम किसी भयजनक वस्तु की ओर अवधान देते हैं, तो उसका आधार हमारी आत्मरक्षा की जन्मजात् रुचि होती है। इसी प्रकार जब किसी संगीताचार्य का शिशु बहुत छोटी अवस्था में ही संगीत की ओर अवधान देता है, तो उसका यह अवधान उसकी जन्मजात् रुचि पर निर्भर होता है। किन्तु जब हम मनोविज्ञान की पुस्तक पढ़ने में अवधान देते हैं, तो यह अवधान हमारी मनोविज्ञान के प्रति अर्जित रुचि पर निर्भर होता है। जो कार्य हम मूल प्रवृत्तियों तथा अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधार पर करते हैं, वे सब हमारी जन्मजात् रुचि के आधार पर होते हैं। किन्तु जो कार्य हम आदत के आधार पर करते हैं, वे अर्जित रुचि पर निर्भर

रहते हैं। सैद्धान्तिक रुचि का अर्थ वह रुचि है जो केवलमात्र सिद्धान्त अथवा ज्ञान से सम्बन्ध रखती हो और व्यावहारिक रूप में हम पर प्रभाव न डालती हो। उदाहरणस्वरूप, जब एक अर्थशास्त्र का छात्र मंडी के भावों के उतार-चढ़ाव की ओर अवधान देता है, तो वह सैद्धान्तिक रुचि के अन्तर्गत ऐसा करता है। मंडी की कीमतों का उतार-चढ़ाव वास्तविक रूप में उसके व्यावहारिक जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव नहीं डालता। किन्तु जब एक व्यापारी मंडी की कीमतों के उतार-चढ़ाव में अवधान देता है, तो उसके अवधान का आधार व्यावहारिक रुचि ही होती है। तात्कालिक अथवा निकटवर्ती रुचि वह रुचि है, जो कि हमारी वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार ही हमारे अवधान को आकर्षित करती है। उदाहरणस्वरूप, मनोविज्ञान की परीक्षा से एक दिन पूर्व छात्र इतिहास को न पढ़कर मनोविज्ञान के विषय की ओर ही ध्यान देगा, क्योंकि मनोविज्ञान उसकी निकटवर्ती रुचि को प्रेरित करता है। किन्तु जब परीक्षा से छः महीने पहले ही विद्यार्थी एक विषय की ओर अवधान देता है, तो उसका अवधान दूरवर्ती रुचि के आधार पर होता है।

बाह्यात्मक उपाधियाँ

बाह्यात्मक उपाधियाँ, जैसा कि उनके नाम से प्रकट होता है, अवधान देने वाले व्यक्ति की अपेक्षा, उन विषयों से सम्बन्धित रहती हैं, जिनकी ओर वह व्यक्ति अवधान देता है। कुछ विषय तथा वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो कि हमारी अनिच्छा के होते हुए भी हमें अवधान-ग्रस्त कर देती हैं। ऐसे विषयों में कई प्रकार की विशेषताएँ तथा लक्षण होते हैं। क्योंकि ये लक्षण उन विषयों के साथ जुड़े रहते हैं, जो कि हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं, इसलिए इनको विषयगत अथवा बाह्यगत उपाधियाँ कहा गया है। ये उपाधियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं:—

विशदता (Intensity)—प्रत्येक विषय अथवा वस्तु की विशदता अथवा शक्तिमत्ता इस बात का निर्णय करती है कि हमारा अवधान उसकी ओर शीघ्र आकर्षित होगा कि नहीं। जो विषय अधिक विशद होता है, वह हमारे अवधान को शीघ्रतया आकर्षित करता है। किन्तु जिस विषय की विशदता नहीं होती अर्थात् जो विषय निर्बल होता है, वह हमारे अवधान के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकता। हमारा अवधान शेर के गरजने की ओर तथा बादल की कड़क की ओर तुरन्त आकर्षित होता है, किन्तु एक चूहे की चूँ-चूँ की ओर हमारा अवधान आकर्षित नहीं होता। इसी प्रकार धीमे दीपक की अपेक्षा तीव्र चमकते हुए बिजली के प्रकाश की ओर हमारा ध्यान शीघ्रतया आकर्षित होता है। इसी प्रकार तीव्र गन्ध शीघ्र ही अवधानान्तर्गत होती है इत्यादि।

विपुलता अथवा विस्तार (Extensity)—विपुलता शब्द का अर्थ फैलाव अथवा विस्तार माना जा सकता है। एक विषय जितना व्यापक तथा जितना विपुल होगा, उसी के अनुसार हमारा अवधान उसकी ओर आकर्षित होगा। बड़े आकार वाली वस्तु

स्वभावतया शीघ्र ही अवधान के क्षेत्र में प्रवेश करती हैं, इसके विरुद्ध छोटे आकार वाली वस्तु केवल चेतना के क्षेत्र तक ही सीमित रहती है। उदाहरणस्वरूप, कुत्ते, बिल्ली और बकरी इत्यादि की अपेक्षा हाथी हमारे अवधान को शीघ्र आकर्षित करता है। इसी प्रकार एक विशाल और सुन्दर भवन एक टूटी-फूटी कुटिया की अपेक्षा शीघ्र अवधान का विषय बन जाता है। प्रायः हृष्ट-पुष्ट और लम्बा-चौड़ा व्यक्ति सबके अवधान को अपनी ओर शीघ्र आकर्षित कर लेता है।

परिवर्तन (Change)—अवधान को आकर्षित करने के लिए परिवर्तन को मुख्य उपाधि माना गया है। जो वस्तु सदैव स्थिर रहती है और कभी परिवर्तित नहीं होती, वह हमारे अवधान को आकर्षित नहीं कर सकती। किन्तु इसके विरुद्ध जिस वस्तु में परिवर्तन हो, वह शीघ्र ही हमारे अवधान को अपनी ओर आकर्षित करती है। सौभाग्य-वश जगत् परिवर्तनशील है और वह सदा प्रगति के मार्ग पर चला जा रहा है। अतः जगत् के परिवर्तनशील विषय हमारे अवधान को आकर्षित करते हैं। साधारणतया जब हम अपने कमरे में घुसते हैं, तो कमरे में लगे हुए चित्रों की ओर अवधान नहीं देते। किन्तु यदि हमारी अनुपस्थिति में कोई व्यक्ति उन सब चित्रों को उलटा लटका दे, तो हम कमरे में घुसते ही इस परिवर्तन की ओर ध्यान देंगे। इसी प्रकार एक मोटर ड्राइवर प्रायः इंजन की ध्वनि की ओर अवधान नहीं देता। किन्तु यदि उस ध्वनि में कोई परिवर्तन प्रतीत हो, तो वह तुरन्त ही अवधान देता है, और उस परिवर्तन को पहचान लेता है। हम साधारणतया अपने कमरे में जलती हुई बिजली की ओर अवधान नहीं देते। किन्तु जब सहसा बिजली का प्रकाश कुछ मन्द हो जाता है अथवा तीव्र हो जाता है, तो हम तुरन्त ही इस परिवर्तन की ओर अवधान देते हैं।

गति (Movement)—वास्तव में गति को परिवर्तन का एक अंग माना जा सकता है, किन्तु प्रत्येक परिवर्तन को गति नहीं कहा जा सकता। जो वस्तुएँ स्तम्भित अथवा एक ही स्थान पर स्थित होती हैं, वे हमारे अवधान को आकर्षित नहीं करतीं। किन्तु जो वस्तुएँ गतिमय और चलती-फिरती होती हैं, वे हमारे अवधान को आकर्षित करती हैं। जब हम अपने कमरे में बैठे हुए किसी पुस्तक को पढ़ने में मग्न हों, तो हम प्रायः किसी और वस्तु की ओर अवधान नहीं देते। किन्तु यदि हमारे उस अवधान के समय कमरे के एक कोने में बिल्ली चलती हुई दिखाई दे, तो हम चौंककर उसकी ओर अवधान देते हैं। पृथ्वी पर पड़ा हुआ कागज का टुकड़ा बालक के अवधान को आकर्षित नहीं करेगा। किन्तु यदि उसी टुकड़े को रस्सी से बाँधकर खींचा जाय तो बालक उसके पीछे दौड़ेगा। शिकार करते समय बिल्ली ऐसे निस्पंद होकर बैठती है मानो कि वह जीवित ही नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में चूहे अथवा कबूतर उसकी ओर अवधान नहीं दे सकते।

नवीनता (Novelty)—नवीन वस्तु सबके मन को लुभाने वाली और आकर्षक होती है। अतः उत्सुकता की मूल प्रवृत्ति के कारण हमारा अवधान प्रत्येक नवीन वस्तु की ओर आकर्षित होता है। पुरानी वस्तु आकर्षक नहीं होती और बार-बार अनुभव किये जाने के कारण उसमें हमारी रुचि नहीं रहती। यदि कोई साधारण छात्र सहसा बहुत सुन्दर वस्त्र पहनकर उपस्थित हो, तो सब छात्रों का अवधान उसकी ओर आकर्षित होगा। इसी प्रकार यदि कोई लड़का साड़ी पहनकर कक्षा में उपस्थित हो, तो नवीनता के कारण वह सबके ध्यान को आकर्षित करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक नया फ़ैशन सब लोगों के अवधान को आकर्षित करता है।

दोहराना (Repetition)—जो क्रिया बार-बार दोहराई जाय, वह कभी-न-कभी अवश्य अवधान के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति बार-बार बुलाने की घंटी को बजाता रहे, तो हम अवश्य उसकी ओर आकर्षित होंगे। किसी फ़िल्म में अथवा ड्रामे में जो गीत बार-बार गाया जाय, वह अवश्य हमारे अवधान को आकर्षित करेगा। इसी प्रकार जिस वस्तु का बार-बार समाचार-पत्रों में विज्ञापन निकलता रहे, वह अवश्य हमारे अवधान को आकर्षित करेगी। जिस पाठ को कक्षा में बार-बार दोहराया जाय उसकी ओर सब छात्रों का अवधान आकर्षित होगा।

विलक्षणता (Striking quality)—विलक्षणता का अर्थ यहाँ केवलमात्र नवीनता नहीं समझना चाहिए। विलक्षणता किसी वस्तु अथवा विषय का विशेष गुण होता है, जो उसको आकर्षक बनाता है। कुछ विषय विशद न होते हुए भी, अपनी विलक्षणता के कारण हमारे अवधान को आकर्षित करते हैं। उस विलक्षणता में कुछ ऐसा अनोखापन होता है, कुछ ऐसी विशेष प्रतिभा होती है, जो हमें अनायास अपनी ओर खेंचती है। अतः चित्र में भरे हुए कुछ हल्के रंग भी तीव्र रंगों की अपेक्षा हमारे अवधान को तुरन्त आकर्षित करते हैं। इसी प्रकार संगीत की धीमी मधुर ध्वनि भी कई बार चारों ओर शोर के होते हुए भी अपनी विलक्षणता के कारण, हमारे अवधान को आकर्षित करती है। कई व्यक्ति आकार में सुन्दर न होते हुए भी आकर्षक होते हैं।

चित्र ८.

निश्चित रूप (Definite form)—निश्चित् रूप वाली अनिश्चित् रूप वाली वस्तु की अपेक्षा हमारे अवधान को शीघ्रतया आकर्षित करती है। चित्र में जिस वस्तु का विशेष आकार होता है वह स्पष्ट रूप में हमारे अवधान के क्षेत्र में आ जाता है और उसके पीछे का अनिश्चित् क्षेत्र हमारे अवधान

से छूट जाता है।

पिछले पृष्ठ पर दिये गये चित्र में छोटा चौकोर निश्चित् रूप के कारण हमारे अवधान को आकर्षित करता है, किन्तु छोटे चौकोर और बड़े चौकोर के बीच का क्षेत्र अनिश्चित् रूप के कारण अवधानान्तर्गत नहीं हो सकता।

सामाजिक लक्षण (Social Factor)—हमारा सामाजिक वातावरण भी हमारे अवधान के प्रवाह के मार्ग को निश्चित् करता है। विशेषकर शिशुओं का अवधान उसी ओर आकर्षित होता है जिस ओर वह अपने माता-पिता तथा सम्बन्धियों को अवधान देते हुए देखता है। एक धार्मिक कुल में उत्पन्न हुआ बालक स्वभावतया धार्मिक विषयों की ओर आकर्षित होगा। खेलते समय भी बालक अपने माता-पिता की क्रियाओं का अनुकरण करते रहते हैं। एक अध्यापक का बालक खेलते समय भी अध्यापक बन बैठेगा और अपने सामने रखे हुए खिलौनों को पढ़ाने का बहाना करेगा। इसके विरुद्ध एक व्यापारी का बालक खेलते समय भी व्यापार की क्रिया करता हुआ दिखाई देगा।

अवधान की उपाधियों का शिक्षा में उपयोग—अवधान की इन उपाधियों का अध्यापक के द्वारा पढ़ाते समय सदुपयोग किया जा सकता है। अध्यापकों को सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि जब तक उनके पढ़ाने की विधि रोचक तथा आकर्षक नहीं होगी, बालक कदापि उनकी ओर अवधान नहीं दे सकते। उच्च-से-उच्च कोटि की शिक्षा भी रुचिकर न होने के कारण बिलकुल व्यर्थ और निष्फल हो सकती है। अतः कुछ सीमाओं के अन्दर पढ़ाने की रोचक विधि पाठ्यक्रम के बाहर होते हुए भी लाभदायक हो सकती है। पाठ को रोचक बनाते समय अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को प्रेरित करे। केवल इतना ही नहीं, अपितु बालकों की जन्मजात् प्रवृत्तियों तथा उनकी निकटवर्ती रुचि का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। जहाँ तक बाह्यात्मक उपाधियों का सम्बन्ध है, समय और स्थान के अनुसार अध्यापक प्रत्येक उपाधि का प्रयोग कर सकता है। बालकों को सजग और सावधान करने के लिए, उसको पढ़ाते समय पूर्ण शक्ति लगाकर, जोर-जोर से भी बोलना पड़ता है। चित्रों तथा आकारों के द्वारा एवं नक्शों के द्वारा छात्रों के अवधान को आकर्षित करना उपयोगी रहता है। प्रत्येक पाठ की पुनरावृत्ति भी शिशुओं के अवधान को आकर्षित करती है। यदि कोई विषय पुराना हो जाय, तो उसको नये रूप में प्रस्तुत करना बालकों के अवधान को आकर्षित करता है। इन सब उपाधियों का प्रयोग करने के लिए शिक्षक का अनुभवी होना भी आवश्यक है।

अभ्यास

१. अवधान का क्या अर्थ है और उसका शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या महत्त्व है?
२. अवधान की व्याख्या करते हुए, चेतना और अवधान का परस्पर सम्बन्ध बतलाओ।
३. अवधान में हम किस प्रकार का शारीरिक व्यवहार करते हैं? क्या इस शारीरिक

व्यवहार के निरीक्षण से शिक्षक कुछ लाभ उठा सकता है ?

४. अवधान कितने प्रकार का होता है ? उदाहरणसहित व्याख्या करो ।

५. अवधान की उपाधियों का क्या अर्थ है और वे कितने प्रकार की हैं ?

६. अवधान और रुचि का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए बतलाओ कि वे दोनों कहाँ तक अन्योन्याश्रित हैं ।

७. अवधान की अन्तरात्मक उपाधियाँ कौन-कौनसी हैं ? पूर्ण व्याख्या करो ।

८. अवधान की बाह्यात्मक उपाधियों पर प्रकाश डालो ।

९. अवधान की उपाधियों का शिक्षा में क्या उपयोग किया जा सकता है ?

चौदहवाँ अध्याय

प्रत्यक्ष ज्ञान (P[illegible])

प्रत्यक्ष ज्ञान का स्थान—शिक्षा-मनोविज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) का विषय भी अवधान के विषय की भाँति महत्त्व रखता है। अवधान के द्वारा हम किसी विषय की ओर आकर्षित होकर उस पर अपनी चेतना को एकाग्र करते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा हम उस विषय को पूर्णतया जान जाते हैं। शिशु के व्यक्तित्व के विकास में तथा उसके अनुभव की वृद्धि में, प्रत्यक्ष ज्ञान का विशेष हाथ रहता है। शिशु के अनुभव ग्रहण करने में प्रत्यक्ष ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान के पश्चात् दूसरा स्थान रखता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा कुछ जटिल मानसिक प्रक्रिया है। शिशु आरम्भ में हर प्रकार का ज्ञान केवल ऐन्द्रिय ज्ञान तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त करता है। वह काफ़ी समय तक केवल मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही निर्भर रहता है। धीरे-धीरे वह विचार के स्तर पर पहुँचता है और तर्क इत्यादि के द्वारा अपने अनुभव में वृद्धि करता है। किन्तु उसके सब प्रत्यय, सब निर्णय तथा सब अनुमान, उसे वास्तव में उसी अनुभव के द्वारा प्राप्त होते हैं, जिसका मुख्य आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। केवल इतना ही नहीं, अपितु हम अपने तर्क और अनुमान को भी उस सीमा तक वास्तविक मानते हैं, जहाँ तक कि वे हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से मेल खाते हैं। प्रायः प्रत्यक्ष ज्ञान को सत्य की कसौटी माना जाता है। अतः इस सत्य की कसौटी का रूप, इसके विशेष लक्षण तथा इसकी शिक्षा में उपयोगिता इत्यादि के प्रश्न शिक्षा-मनोविज्ञान के विचारणीय विषय हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा—किसी विषय के प्रति प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना उस विषय को इकाई के रूप में जानना है। ऐसे ज्ञान में जाने गये विषय के भिन्न अंग होते हुए भी उन सब को इकाई के रूप में अनुभव किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्यक्ष ज्ञान में हम ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही बाहरी विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। किन्तु ऐन्द्रिय ज्ञान तथा प्रत्यक्ष ज्ञान बिलकुल विभिन्न क्रियाएँ हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान केवल-मात्र किसी विषय का आभास करना ही माना जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ न केवल किसी विषय का आभास करना अथवा केवलमात्र जानना (Cognition) है, अपितु उस विषय को पहचानना अथवा उसको 'अमुक विषय' समझना भी है। उदाहरणस्वरूप, केवलमात्र शब्द का आभास तो ऐन्द्रिय ज्ञान है, किन्तु एक शब्द को अथवा ध्वनि को सुनकर यह अनुभव करना कि वह मोटरकार की ध्वनि है अथवा सितार की झंकार है, प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार ऐन्द्रिय ज्ञान है, किन्तु केवलमात्र ऐन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

प्रत्यक्ष ज्ञान को ऐन्द्रिय ज्ञान तथा उसके आशय अथवा अर्थ का सम्मिश्रण कह सकते हैं। जब ऐन्द्रिय ज्ञान हमारे लिए विशेष अर्थ रखता है, जब ऐन्द्रिय ज्ञान हमें वस्तुतः (Thinghood) का ज्ञान देता है, जब ऐन्द्रिय ज्ञान का आशय किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थान से होता है, तो वह ऐन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में ऐन्द्रिय ज्ञान होना आवश्यक है, अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान है। उदाहरणस्वरूप, जब हम किसी गोल तथा केशरी रंग की वस्तु को मेज पर देखते हैं, तभी हम नारंगी के प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव करते हैं। किन्तु ऐसा करते समय हम नारंगी के सब गुणों का ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा अनुभव नहीं करते। उदाहरणस्वरूप, नारंगी का रंग और आकार तो हम दृष्टि-इन्द्रिय द्वारा अनुभव करते हैं, किन्तु हम जानते हैं कि नारंगी का विशेष स्वाद होता है और उसकी विशेष गन्ध होती है। उसके इन गुणों का अनुभव हम ऐन्द्रिय ज्ञान के द्वारा तो नहीं करते, किन्तु पूर्ववर्ती अनुभव के कारण हम अपने मन में इन गुणों का प्रत्याह्वान ही कर लेते हैं। यह प्रत्याह्वान ही प्रत्यक्ष ज्ञान में अनुभव की गई वस्तु को उसका अर्थ अथवा आशय देता है। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय की उपस्थिति तथा उसका प्रत्याह्वान अर्थात् ऐन्द्रिय ज्ञान तथा स्मृति दोनों का साहचर्य होता है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को उपस्थित गुणात्मक (Presentative) तथा प्रतिनिधि गुणात्मक (Representative) मनोप्रक्रिया माना जाता है। हमारे साधारण जीवन में प्रायः प्रत्येक ऐन्द्रिय ज्ञान सविकल्पक अथवा अर्थयुक्त होता है। हम जब भी देखते हैं, कोई-न-कोई वस्तु अवश्य देखते हैं। जब भी सुनते हैं, किसी-न-किसी विशेष शब्द अथवा ध्वनि को सुनते हैं। अतः ऐन्द्रिय ज्ञान के सब अनुभव वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान होते हैं। विशुद्ध ऐन्द्रिय ज्ञान अथवा विशुद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे सामान्य जीवन में असम्भव माना गया है। हमारा कोई भी अनुभव अर्थहीन नहीं होता। सम्भवतया नवजात शिशु का अनुभव अर्थहीन होता हो, क्योंकि उसको संसार का कुछ भी अनुभव नहीं होता। अतः श्री जेम्ज़ ने कहा है कि "नवजात शिशु के लिए यह संसार एक विशाल भिनभिनाता हुआ, गुड़गुड़ाता हुआ गोरखधन्धा है।" दूसरे शब्दों में नवजात शिशु के लिए उसका अनुभव अर्थहीन निर्विकल्पक तथा विशुद्ध ऐन्द्रिय ज्ञान होता है। अतः हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वदा हमारे पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर ही होता है। शिशु का पूर्ववर्ती ज्ञान जितना विस्तृत होता चला जाता है, उतना ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान जटिल होता चला जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान में अधिक महत्ता अनुभव की सम्पूर्णता को दी जाती है। प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न अंगों का एक समूह होता है, किन्तु उसके भिन्न अंग सम्पूर्ण रूप में (as a whole) अनुभव किये जाते हैं। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को ऐसा अर्थयुक्त ऐन्द्रिय ज्ञान माना जा सकता है, जिसमें कि अनुभव उपस्थित गुणात्मक तथा अनुपस्थित गुणात्मक होता है और उसके भिन्न अंग

सम्पूर्ण रूप में ग्रहण किये जाते हैं। जिस प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान बाहरी विषयों के प्रति हमारी प्रथम प्रतिक्रिया है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान हमारी गौण प्रतिक्रिया है। शारीरिक ज्ञान के दृष्टिकोण से ऐन्द्रिय ज्ञान हमारे मस्तिष्क के ऐन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी प्रदेश की उत्तेजना है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान में ऐन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी प्रदेश के अतिरिक्त मस्तिष्क के अन्य निकटवर्ती प्रदेश भी उत्तेजित होते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान की उपाधियाँ—हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न ऐन्द्रिय ज्ञानों का समूह भी हो सकता है और एक प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान के भिन्न-भिन्न भागों का एकीकरण भी हो सकता है। हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान दृष्टि सम्बन्धी भी हो सकता है और श्रवण सम्बन्धी भी हो सकता है। किन्तु दृष्टि के क्षेत्र में कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जो कि शीघ्रतया इकाई के रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत हो सकती हैं। इसी प्रकार श्रवण के क्षेत्र में भी कुछ विशेष ध्वनियाँ शीघ्रतया प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बन सकती हैं। दूसरे शब्दों में कुछ ऐसे विशेष लक्षण तथा उपाधियाँ हैं जो कि प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायक होती हैं। अतः शिक्षक के लिए ऐसी उपाधियों का जानना आवश्यक है। श्री वुडवर्थ ने प्रत्यक्ष ज्ञान की निम्न-लिखित मुख्य उपाधियाँ बतलाई हैं—

१. **निकटता**—जो वस्तुएँ निकटवर्ती होती हैं, वे शीघ्रतया प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती हैं। जो बिन्दु एक दूसरे के निकट होते हैं, वे एक समूह में देखे जाते हैं और जो बिन्दु एक दूसरे से दूर होते हैं वे एक समूह में नहीं देखे जाते। इसी प्रकार यदि तीन बार एक दूसरे के पश्चात् बिना अन्तर के ढोल बजाया जाय, तो उन तीनों ध्वनियों को एक ही समूह में सुना जायगा। किन्तु यदि काफ़ी समय के अन्तर के पश्चात् तीन बार ढोल बजाया जाय, तो वे ध्वनियाँ एक समूह में नहीं सुनी जायँगी।

२. **समानता**—बिन्दु अथवा चौकोर, जिनके आकार समान होते हैं, शीघ्रतया समूह बनाते हैं। किन्तु भिन्न आकार वाले बिन्दु अथवा चौकोर निकट होते हुए भी एक समूह नहीं बनाते। सामने दिये गये चित्र के आकार से यह बात स्पष्ट होती है। इसमें हम देख सकते हैं कि चार चौकोर दूर होते हुए भी एक ही समूह में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार चार बिन्दु निकट न होते हुए भी एक अन्य समूह बनाते हुए दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार श्रवण के क्षेत्र में भी बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं। ऊँचे ग्राम के स्वरों की माला एक ही समूह में सुनी जाती है। इसी प्रकार नीचे ग्राम के स्वरों की माला तथा एक ही वाद्ययन्त्र के द्वारा बजाये गये स्वरों की माला एक ही समूह बनाती है। बहुत से लोगों के बीच में भिनभिनाहट

चित्र ६.

होते हुए भी एक ही व्यक्ति द्वारा बोले गये शब्दों की श्रृङ्खला एक ही समूह में सुनी जाती है।

३. निरन्तरता—वे बिन्दु, जो एक सीधी रेखा में जोड़े जा सकते हैं अथवा किसी निरन्तर वक्र रेखा में जोड़े जा सकते हैं, सरलता से एक ही समूह में देखे जा सकते हैं। सामने दिये गये आकार से यह बात स्पष्ट होती है कि वे चार बिन्दु, जो कि रेखाओं के द्वारा जोड़े गये हैं, एक ही समूह बनाते हैं।

चित्र १०. एक समूह के रूप में देखा
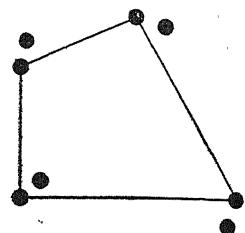
४. संयोग—एक समूह अथवा ढाँचा, जिसमें कि सब तत्त्व संयुक्त होते हों, शीघ्रतया प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। यदि किसी आकार के सब तत्त्व तथा अंग एक ही ढाँचे में संयुक्त होते हों, तो वह आकार सरलता से जाता है। जो तत्त्व अथवा अंग इस आकार से पृथक् हों, वे एक ही समूह में आसानी से नहीं देखे जाते। ऊपर दिये गये आकार से भी यह बात स्पष्ट होती है। इसके अतिरिक्त यदि हम दो त्रिकोणों को इस प्रकार से अंकित करें कि वह एक दूसरे से नीचे दिये गये रूप में संयुक्त हों, तो उन दो त्रिकोणों की अपेक्षा हमें एक षट्कोण ही दीख पड़ता है।
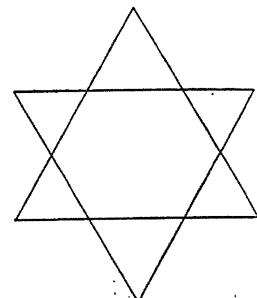
चित्र ११.

५. परिचय—यदि कोई ढाँचा अथवा नमूना परिचित हो, तो वह शीघ्रता से प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। इसके विरुद्ध अपरिचित ढाँचा इकाई के रूप में कठिनाई से देखा जाता है।

६. तत्परता—यदि हम किसी विशेष वस्तु को ढूँढ़ने के लिए तत्पर हों, तो वह भी शीघ्रता से हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रविष्ट होती है। इसी तत्परता के कारण हम प्रायः प्रत्यक्ष ज्ञान में भूल भी कर जाते हैं। पढ़ते समय बहुत से शब्दों की अशुद्धियों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता और हम अशुद्ध शब्दों को भी शुद्ध ही समझ लेते हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती अनुभव के कारण हम उन शब्दों को वैसा देखने के लिए पहले से ही तत्पर होते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान की इन उपाधियों का पढ़ाते समय उपयोग करना, शिक्षक के लिए वांच्छनीय है। यदि बालकों को इन उपाधियों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव कराया जाय, तो उनका निरीक्षण विस्तृत होता है और प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ग्रहण किया गया अनुभव उनके मन पर काफ़ी समय के लिए अंकित रहता है। विशेषकर रेखागणित तथा चित्र-कला पढ़ाते समय प्रत्यक्ष ज्ञान की इन उपाधियों का उपयोग किया जा सकता है।

शिशु के प्रत्यक्ष ज्ञान की अपूर्णता—क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान हमारे पूर्ववर्ती अनुभव पर निर्भर रहता है, अतः यह स्पष्ट है, कि शिशु का प्रत्यक्ष ज्ञान उनके सीमित अनुभव के कारण तथा उसकी कोमल अवस्था के कारण प्रौढ़ व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा अस्पष्ट तथा अपूर्ण होगा। शिक्षक को पढ़ाते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि बालक का प्रत्यक्ष ज्ञान अपरिपक्व होता है। बालक के प्रत्यक्ष ज्ञान की त्रुटि का कारण उसके ऐन्द्रिय ज्ञान में अथवा उसके प्रत्याह्वान में हो सकता है। किन्तु अधिकतर बालकों का प्रत्यक्ष ज्ञान उनके प्रत्याह्वान में त्रुटि होने के कारण अपूर्ण होता है। जब बालक कोई चित्र बनाते समय चित्रण किये गये विषय के बहुत से अंग छोड़ देते हैं, तो उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वे उन अंगों को जानते तक नहीं। वास्तव में चित्रण करते समय प्रत्यक्ष ज्ञान की अपूर्णता के कारण वे उन अंगों का चित्रण नहीं करते। वे प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव करते समय कल्पना और वास्तविकता में अन्तर नहीं रख सकते और कल्पनात्मक तत्त्व को प्रत्यक्ष ज्ञान का तत्त्व समझ लेते हैं। किशोरावस्था प्राप्त करने के पश्चात् ही शिशु, अनुभव विस्तृत होने के कारण इन भेदों को समझने लगता है और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी अधिक स्पष्ट और परिपक्व होने लगता है। बहुत छोटे बालकों से परिपक्व प्रत्यक्ष ज्ञान की आशा नहीं रखनी चाहिए। बालकों का प्रत्यक्ष ज्ञान, विशेषकर स्थान और समय के दृष्टिकोण से अपरिपक्व होता है। उनके प्रत्यक्ष ज्ञान की इन दो त्रुटियों को हमें व्याख्यापूर्वक जानना चाहिए।

शिशु का स्थान सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान—शिशु का स्थान के प्रति प्रत्यक्ष ज्ञान अधूरा तथा अस्पष्ट होता है। वह स्थान के विस्तार को एक प्रौढ़ व्यक्ति की भाँति नहीं समझ सकता। अतः जो विषय शिशु से बहुत दूर हों वह उनके प्रति ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रखता। सहस्रों मीलों की दूरी को शिशु सरलता से नहीं समझ सकता। उसके लिए स्थान बहुत संकुचित होता है, अतः उसके स्थान के प्रत्यय संकुचित और छोटे होते हैं। वह लम्बे-लम्बे फ़ासलों को प्रायः भूल जाता है। अधिक-से-अधिक वह स्थान को गज़ों में ही माप सकता है। वह केवल उन्हीं फ़ासलों को भलीभाँति समझ सकता है, जिनका कि वह स्वयं अनुभव कर सकता है। अतः भूगोल इत्यादि पढ़ाते समय बालक के प्रत्यक्ष ज्ञान की इस त्रुटि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। उसे आरम्भ से ही स्थूल रेखागणित (Solid Geometry) इत्यादि नहीं पढ़ाना चाहिए। जब तक कि शिशु किशोरावस्था में प्रवेश न करे, उसे ऐसे कठिन विषयों से परिचित करना लाभदायक नहीं होता। किन्तु जब उसका अनुभव विस्तृत हो जाता है, तो वह इन विषयों को समझने लगता है और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान परिपक्व हो जाता है। इसी प्रकार आरम्भ से ही शिशु को भूगोल के नक्शों का ज्ञान कराना असंगत है। यदि आरम्भ से ही उसको नक्शों के द्वारा पढ़ाया जाय, तो पृथ्वी के क्षेत्र के प्रति उसके प्रत्यय संकुचित ही रहते हैं। इसी प्रकार गणित

पढ़ाते समय भी शिशु की इस त्रुटि का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। न केवल स्थान के माप में, अपितु अंकों की संख्या के सम्बन्ध में भी, शिशुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान सीमित होता है और उनके प्रत्यय प्रौढ़ पुरुषों की अपेक्षा अपूर्ण होते हैं। गणित में न केवल शिशुओं का अपितु बहुत से अशिक्षित प्रौढ़ पुरुषों का ज्ञान-क्षेत्र भी सीमित होता है। बहुत से ग्रामीण प्रायः बीस से अधिक गिन नहीं सकते और यदि उनको ऐसा गिनना पड़े तो वे बीस को ही अपना माप-दण्ड बनाते हैं। अतः पहली-दूसरी कक्षा में यदि शिशुओं को गणित पढ़ाया भी जाय, तो उनको सरल-से-सरल संख्या के प्रश्न समझाने चाहिएँ। छोटे-छोटे शिशुओं को आरम्भ से ही कठिन प्रश्नों का समझाना लम्बी-लम्बी संख्याओं वाले गुणा तथा भाग के प्रश्नों को पूछना उनसे उनके सामर्थ्य से अधिक आशा रखना है।

शिशु का समय सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान—स्थान सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान की भाँति शिशु का समय सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान भी सीमित होता है। समय का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने में शिशु को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार लम्बे फ़ासले का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने में शिशु को कठिनाई होती है, उससे भी कहीं अधिक कठिनाई उसको बहुत समय पहले की घटनाओं तथा लम्बी अवधि का प्रत्यय ग्रहण करने में होती है। शिशु प्रायः थोड़े समय पहले घटी हुई घटना का अन्तर तो समझ सकते हैं, किन्तु जब घटना बहुत पुरानी हो जाय, तो प्रायः वे अवधि की ठीक-ठीक मात्रा नहीं बतला सकते। बहुत छोटे शिशुओं के लिए तो अतीत की सब घटनाएँ मानों कल ही (एक दिन पहले) घटी होती हैं। यदि दो वर्ष के शिशु को सिनेमा ले जाने के एक सप्ताह पश्चात् पूछा जाय कि उसको सिनेमा कब दिखलाया गया था, तो वह उसको केवल एक दिन पहले की घटना बतलायेगा। अतः ठीक-ठीक दिनों तथा तिथियों का ज्ञान शिशु को धीरे-धीरे होता है। बड़े बालकों को भी विशेषकर प्राचीन इतिहास की तिथियाँ ठीक प्रकार से समझ में नहीं आतीं और इसी कारण वह उन्हें भूल जाता है। सुदूर प्राचीनकाल की तिथियाँ, जैसे कि ३२० ईसा से पूर्व इत्यादि, बालकों के लिए कठिन समस्या उत्पन्न कर देती हैं। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों की स्वाभाविक त्रुटियों का ध्यान रखते हुए, विशेषकर इतिहास पढ़ाते समय, जितना हो सके, तिथियों की पूरी व्याख्या करे। बहुत छोटे शिशुओं को तो समय की कठिन समस्याओं से मुक्त ही रखना चाहिए। इतिहास के पढ़ाने के लिऐ केवलमात्र तिथियाँ बता देने की अपेक्षा, चित्रों तथा सिनेमा द्वारा दिखलाई गई घटनाएँ, शिक्षा के दृष्टिकोण से अधिक लाभदायक हैं। इससे भी अधिक मनोरंजक तथा लाभदायक उपाय ऐतिहासिक नाटकों का छात्रों द्वारा कराया जाना है। जो घटनाएँ, वे स्वयं प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं, उनका प्रभाव, उनके मन पर चिरस्थायी होता है।

अभ्यास

१. प्रत्यक्ष ज्ञान का शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या स्थान है ? व्याख्यापूर्वक बतलाओ।

२. प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा देते हुए उसकी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान से तुलना करो।

३. 'प्रत्यक्ष ज्ञान [illegible] तथा [illegible] मनोप्रक्रिया है' इस कथन की विवेचना करो।

४. प्रत्यक्ष ज्ञान की उपाधियों पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि इनका शिक्षा में क्या उपयोग किया जा सकता है।

५. शिशु और प्रौढ़ व्यक्ति के स्थान सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना करो और उनकी परस्पर भिन्नता बताओ।

६. शिशु और प्रौढ़ व्यक्ति के समय सम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान की तुलना करो और उनकी परस्पर असमानता बताओ।

७. शिशु तथा प्रौढ़ व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान की असमानता का शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से क्या महत्त्व है ?

पंद्रहवाँ अध्याय

कल्पना (Imagination)

कल्पना की व्याख्या—अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की श्रेष्ठता उसके बौद्धिक स्तर पर रहने के कारण है। अन्य प्राणी केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के स्तर पर अवलम्बित रहते हैं। उनका जीवन केवल वर्तमान ऐन्द्रिय ज्ञान पर निर्भर है। इसके विरुद्ध मनुष्य भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों के अनुभवों का प्रयोग करता हुआ, अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर जीवन का निर्वाह करता है। वह पूर्ववर्ती अनुभव का स्मृति के द्वारा प्रत्याह्वान करके वर्तमान अवस्था में उचित व्यवहार करता है, इतना ही नहीं अपितु वह भविष्य की भी कल्पना करता है और आने वाली परिस्थिति का सामना करने के लिए पहले ही तत्पर हो जाता है। वह पूर्ववर्ती अनुभव का स्मृतियों के द्वारा प्रत्याह्वान करके, जब उसको पहले ही क्रम में अथवा ठीक उसी अवस्था में स्मरण करता है जैसा कि उसने पहली बार अनुभव किया था, उस समय वह केवल स्मृति का प्रयोग कर रहा है। किन्तु जब वह पूर्ववर्ती अनुभव का नये क्रम में प्रत्याह्वान करता है, अथवा प्रत्याह्वान करते समय उसमें नवीनता उत्पन्न कर देता है, तो वह कल्पना की प्रक्रिया का प्रयोग कर रहा होता है। जब हम घर के कमरों का वैसे ही प्रत्याह्वान करते हैं, जैसे कि वे वास्तव में हैं तो हम स्मृति का प्रयोग कर रहे होते हैं। किन्तु जब हम घर के कमरों का प्रत्याह्वान करते समय उनको एक नये क्रम में रखते हैं और उनकी एक नई प्रतिमा की मन में रचना करते हैं, तो हम कल्पना कर रहे होते हैं। दूसरे शब्दों में मानसिक कलापूर्ण रचना (Manipulation) का नाम कल्पना है। जब भी हम पूर्ववर्ती अनुभव को नया मौलिक रूप दे देते हैं और उसको ऐसे ढंग से प्रस्तुत करते हैं, कि हमने वैसे पहले कभी अनुभव नहीं किया होता तो हम कल्पना कर रहे होते हैं। कल्पना में नवीनता अवश्य होती है, किन्तु वह नवीनता हमारे पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर होती है। पहाड़ की प्रतिमा वास्तविक प्रत्यय है। इसी प्रकार स्वर्ण की प्रतिमा भी एक वास्तविक प्रत्यय है किन्तु स्वर्ण पर्वत और 'सुमेरु' कल्पना हैं। इसी प्रकार उड़ने वाला घोड़ा कल्पना की रचना है। किन्तु हवा में किले बनाना मात्र ही कल्पना नहीं है। समय था जब कि कल्पना को एक व्यर्थ की चीज माना जाता था, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि कल्पना-शक्ति हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

कल्पना के स्तर—हमारे जीवन में शैशवावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक कल्पना की प्रक्रिया भिन्न स्तरों में प्रकट होती है। शैशवावस्था में खिलौनों की तोड़-फोड़ और उनका एक क्रम में रखना इत्यादि, शिशु की कल्पना को प्रकट करता है। जब शिशु

कुछ बड़ा होता है तो उसकी काल्पनिक क्रिया कल्पनात्मक विश्वास (Make belief) में परिवर्तित हो जाती है। जब एक शिशु एक दीवार पर बैठकर उसको घोड़ा बना देता है अथवा जब छोटी बालिका अपनी गुड़िया को वास्तव में बीमार समझ लेती है और उसकी परिचर्या करती है, तो कल्पनात्मक विश्वास के रूप में कल्पना-शक्ति का प्रकटीकरण होता है। इसी प्रकार जब एक बालक ईंटों की पंक्ति लगाकर उनको मोटरकारों की पंक्ति समझ लेता है अथवा कुर्सियों और बैंचों को छात्र समझकर स्वयं अध्यापक बन बैठता है, तो वह कल्पनात्मक विश्वास का प्रयोग कर रहा होता है। शैशवावस्था में शिशु इसी कारण अप्सराओं की कथाओं को सुनने में रुचि रखते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ बड़े शिशुओं में कल्पना-शक्ति मनगढ़न्त कहानी बना लेने में प्रकट होती है। शिशु दौड़ता हुआ माँ के पास आता है और झूठ-मूठ कह देता है कि उसको बड़े भाई ने पीटा है। शिशु के आदिकाल के झूठ केवल कल्पनात्मक होते हैं। शिशु असत्य इसलिए नहीं कहता कि वह हमें धोखा देना चाहता है; किन्तु इसलिए कहता है कि वह असत्य और कल्पना में अन्तर नहीं समझता।

कल्पना का उपयोग—प्रायः माता-पिता और अध्यापक व्यर्थ में शिशुओं को कल्पनात्मक असत्य के लिए दण्ड देते हैं। किन्तु अध्यापक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो शिशु कल्पनात्मक विश्वास तथा कल्पनात्मक असत्यों का आविष्कार कर सकता है, उसकी कल्पना-शक्ति उत्कृष्ट है और वह आगे चलकर अपनी उत्पादक कल्पना (Productive imagination) के कारण कलाकार, लेखक अथवा कवि बन सकता है। किन्तु इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि छोटे बालकों में कल्पना की प्रक्रिया परिपक्व नहीं होती। जब अध्यापक ऐसे बालकों को पढ़ा रहा हो और उनको ऐसे विषय का परिचय करा रहा हो, जिसमें कि बालकों को कल्पना-शक्ति का प्रयोग करना पड़े, तो उसको चाहिए कि वह ऐसे प्रत्ययों का प्रयोग करे जिनसे वे बालक भलीभाँति परिचित हों। मान लो कि बालकों को यह बताना है कि शीशे का प्रासाद किसे कहते हैं, तो यदि उन्होंने कोई प्रासाद देखा हो, तो उसका उदाहरण देकर उन्हें समझाया जा सकता है, कि यदि अमुक प्रासाद, उसी पदार्थ का बना हुआ हो, जिसकी प्लेटें अथवा गिलास इत्यादि बनते हैं, तो वह शीशे का प्रासाद होगा। यदि उन्होंने कभी कोई प्रासाद न देखा हो, तो उनको किसी विशाल भवन का उदाहरण दिया जा सकता है। साधारणतया बालकों से उच्च प्रकार की कल्पना की आशा नहीं की जा सकती।

कल्पना का आधिक्य असंगत—कल्पना के विषय में एक और बात जो अध्यापक के लिए ध्यान देने के योग्य है, वह यह है कि बालकों को आवश्यकता से अधिक कल्पनात्मक विश्वास में व्यस्त न होने दें और न ही उन्हें बहुत कल्पनात्मक कहानियों में लीन होने का अवसर दें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्पनात्मक विश्वास उत्कृष्ट कल्पना

का लक्षण है और प्रत्येक बालक इस अवस्था को पार करता है। प्रत्येक बालक अद्भुत तथा विचित्र अप्सराओं तथा देवों इत्यादि की कथाओं को सुनने में बहुत रुचि रखता है। यदि उसे हर समय कल्पनात्मक विश्वास तथा कल्पनात्मक कहानियों में मग्न रहने दिया जाय, तो वह जीवन की वास्तविकता को कैसे समझ सकेगा? आवश्यकता से अधिक कल्पना करने वाला व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में सफल नहीं हो सकता। बालक के स्वस्थ विकास के लिए कल्पनात्मक विश्वास के स्तर को पार करके, व्यावहारिक तथा तार्किक अवस्था में प्रवेश करना आवश्यक है। जब बालक किशोरावस्था में प्रवेश करता है तो धीरे-धीरे उसकी कल्पना विकसित होती जाती है। प्रौढ़ावस्था में तो उसकी कल्पना रचनात्मक और उत्पादक हो जाती है।

कल्पना और मनोरंजन—कल्पना केवल शिशुओं के खेल में ही मनोरंजक नहीं होती, अपितु प्रौढ़ों की क्रीड़ा में भी कल्पना ही उनके मनोरंजन का आधार होती है। ताश, शतरंज तथा अन्य घरेलू क्रीड़ाओं में, कल्पना-शक्ति का ही प्रयोग किया जाता है। शतरंज का खिलाड़ी अपने विरोधी की चालों की पहले ही कल्पना कर लेता है और अपने आपको आने वाली परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए तत्पर कर लेता है। न केवल खेलों में, बल्कि उपन्यास पढ़ने में जाग्रत स्वप्न (Day dreaming) के अनुभव करने में चिन्ता (Worry) तथा अन्तरानुभूति (Empathy) इत्यादि में कल्पना की प्रक्रिया ही उपस्थित होती है।

जागृत स्वप्न तथा अन्तरानुभूति—उपन्यास पढ़ते समय हम कल्पना-शक्ति के कारण लेखक की व्याख्या के अनुसार भिन्न स्थानों का पर्यटन करते हैं। हम अपने आपको उपन्यास का मुख्य चरित्र समझकर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, जय-पराजय, स्तुति, निन्दा इत्यादि का अनुभव करने की कल्पना करते हैं और ऐसा अनुभव करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं। यह केवल हमारी कल्पना-शक्ति की देन है। जाग्रत स्वप्न हमारे मन को वह अवस्था है, जब कि हम कल्पना के संसार में मन के लड्डू खाते हैं अथवा हवाई किले बनाते हैं। कल्पना की इस क्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण उस दूध बेचने वाली का है, जिसने कि दूध की मटकी सिर पर रखकर सड़क पर जाते हुए यह कल्पना की थी कि दूध बेचने के पश्चात् उसे जो पैसे प्राप्त होंगे, उनसे वह और दूध बेचेगी। उसके पश्चात् वह बकरी मोल ले लेगी। बकरी के बच्चे होंगे। उसके पश्चात् वह गाय ले लेगी; गाय के बछड़े-बछड़ियाँ इत्यादि होंगे; पश्चात् वह और गौएँ, भैंसे इत्यादि मोल ले लेगी। उसका दूध का व्यापार बढ़ जायेगा। वह बहुत धनवान् हो जायेगी और उसकी ख्याति होगी। एक राजकुमार उसके साथ नृत्य करने की प्रार्थना करेगा। किन्तु जब वह ऐसी कल्पना करके नृत्य करने लगी, तो उसकी दूध को मटकी सिर से गिर गई और उसका जाग्रत स्वप्न टूट गया। इसी प्रकार हमारे

जाग्रत स्वप्न चिन्ता के भी होते हैं। कई व्यक्ति बिना कारण के ही चिन्ता करते रहते हैं कि उन पर कोई आपत्ति आ जायगी अथवा उनका लोगों में अपवाद होगा इत्यादि। अन्तरानुभूति का अर्थ किसी वस्तु के अन्दर भावना रखना है। जब एक शिशु आकाश में पतंग उड़ाता है और अपने आपको पतंग के समान समझ लेता है अथवा पतंग की उड़ान को अपनी उड़ान समझ लेता है, तो वह अन्तरानुभूति के रूप में कल्पना कर रहा होता है। इसी प्रकार फुटबाल का मैच देखते समय जब एक बालक अपने आपको गोल की तरफ़ फुटबाल को ले जाते हुए खिलाड़ी के साथ आत्मसात् (Identify) करके खेल के मैदान में बाहर खड़ा हुआ मानो फुटबाल को गोल में डालने के लिए हवा में लात मार देता है, वह अन्तरानुभूति का अनुभव करता है।

कल्पना का शिक्षा में प्रयोग—न केवल खेलों में अथवा उपन्यास इत्यादि में मनोरंजन प्राप्त करने में ही कल्पना-शक्ति का हाथ है, बल्कि जीवन के गम्भीर कार्य में, कला-कौशल में, उपन्यास और कविता की रचना में, वैज्ञानिक आविष्कारों में तथा इंजीनियरिंग में भी कल्पना का प्रयोग अनिवार्य है। उपरोक्त क्रियाओं में केवल वही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है, जिसकी कल्पना-शक्ति उत्कृष्ट तथा उत्पादक हो। अतः पाठशालाओं में बालकों को कल्पना-शक्ति के विकास का अवसर देने के लिए ऐसी-ऐसी क्रीड़ाओं तथा क्रियाओं में नियुक्त करना चाहिए, जिनमें कि उनको कल्पना का प्रयोग करना पड़े। ऐसा करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक शिशु कल्पना के विशेष स्तर पर न पहुँच जाय, तब तक उससे उच्च स्तर की कल्पना करने की आशा न रखी जाय। यदि बालक बहुत छोटा है और उत्पादक-कल्पना उसकी सामर्थ्य से बाहर है, तो हम उससे यह आशा नहीं रख सकते कि वह उपन्यास अथवा उच्च कोटि का निबन्ध लिख सकेगा। इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि शिशु कल्पना के एक ही स्तर पर न रह जाय किन्तु उससे ऊँचा उठने का यत्न करे। यदि शिशु कल्पनात्मक विश्वास के स्तर से ऊपर नहीं उठेगा, तो वह अपना बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। यही कारण है कि श्रीमती मॉन्टीसरी ने अपनी शिक्षण-विधि में शिशुओं को आश्चर्यजनक कहानियाँ सुनाने की मनाई की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी कहानियों के सुनने से शिशुओं की कल्पनात्मक शक्ति का विकास होता है और उनकी उत्सुकता बढ़ती है, किन्तु आवश्यकता से अधिक कल्पनात्मक विश्वास में लीन रहना भी हानिकारक है। यदि किसी शिशु को कहानियाँ सुनने की आदत पड़ जाय, तो व्यावहारिक जीवन में वह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। मैडम मॉन्टीसरी का कहना है कि शिशुओं को कल्पनात्मक विश्वास से दूर रखकर जीवन की वास्तविकता से परिचित कराना चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं कि बालक को पाठशाला में किसी प्रकार की कल्पना करने की अथवा कल्पनात्मक खेल खेलने की आज्ञा ही न दी जाय। इसके विरुद्ध पाठशाला

के अन्दर कल्पनात्मक खेलों को सर्वप्रिय बनाना चाहिए, विशेषकर शतरंज का खेल बड़े बालकों के लिए अति आवश्यक है। रूस के विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में इस खेल को शिक्षा का अंग समझा जाता है। छोटी श्रेणियों में भी चित्रों की पूर्ति करना, चित्र खींचना तथा मिट्टी इत्यादि के खिलौने बनाना कल्पना के विकास के लिए उपयोगी हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान तथा परिचय (Perception and idea)—मनोजीवन का नियम है कि एक बार किया गया अनुभव सर्वदा के लिए लुप्त नहीं हो जाता, बल्कि वह किसी-न-किसी रूप में मन में उपस्थित रहता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया गया अनुभव विषय की अनुपस्थिति में भी प्रत्ययों के रूप में उपस्थित रहता है। प्रत्यय हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के वास्तविक तथा परिपक्व रूप होते हैं। उनमें अन्तर केवल इतना है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में ऐन्द्रिय ज्ञान तथा उसके अर्थ का मिश्रण होता है। जब कि प्रत्यय में प्रतिमा तथ उसके अर्थ का मिश्रण होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय का उपस्थित होना अत्यावश्यक है। जब तक कि अश्व यथार्थ रूप में हमारे सामने उपस्थित न हो, उस समय तक हम अश्व का प्रत्यय ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु अश्व की अनुपस्थिति में भी हम उसके प्रत्यय का अनुभव कर सकते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान समय और स्थान के द्वारा सीमित है, इसके विरुद्ध प्रत्यय बिलकुल स्वतन्त्र तथा विस्तृत है। चाहे हमने अमरीका का देश स्वयं भी न देखा हो तब भी हम उस देश के प्रत्यय का अनुभव कर सकते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यय की अपेक्षा स्थिर तथा स्पष्ट होता है। इसका कारण केवल यही है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय यथार्थ रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है, जब कि प्रत्यय विषय से स्वतन्त्र होने के कारण अस्थिर तथा अस्पष्ट होता है।

वैयक्तिक मनोविज्ञान के पण्डितों ने अनेक प्रयोगों के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि प्रत्ययों के आह्वान में व्यक्ति व्यक्ति का अन्तर होता है। कुछ व्यक्ति केवल उन्हीं प्रत्ययों का आह्वान आसानी से कर सकते हैं, जिनका उन्होंने अपनी दृष्टि के द्वारा अनुभव किया हो। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति केवल श्रवण किये हुए विषयों के प्रत्ययों का आह्वान कर सकते हैं और कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो कि केवल स्पर्श किये हुए विषयों के प्रत्ययों का आह्वान कर सकते हैं, किन्तु अधिकतर संख्या उन लोगों की है जो कि दृष्टि से अनुभव किये हुए, श्रवण किये हुए तथा स्पर्श किये हुए विषयों के प्रत्ययों का सामान्य रूप में आह्वान कर सकते हैं। अतः इसी अन्तर के आधार पर व्यक्तियों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है जो निम्नलिखित हैं—

१. दृष्टि-आत्मक अथवा दृष्टिप्रधान स्मृति वर्ग (Visual memory type or imagery type)।

२. श्रवणात्मक स्मृति अथवा श्रवणप्रधान स्मृति वर्ग (Auditory memory or imagery type)।

३. स्पर्शात्मक अथवा स्पर्शप्रधान स्मृति वर्ग (Tactual type of memory or imagery)।

४. मिश्रित स्मृति वर्ग (Mixed type of memory or imagery)।

दृष्टि-आत्मक अथवा दृष्टिप्रधान वर्ग—जिस व्यक्ति की स्मृति दृष्टिप्रधान होती है, वह केवल उन अनुभवों को स्मरण रख सकता है जो कि उसने प्रत्यक्ष देखे हों। वह श्रवण किये हुए तथा स्पर्श किये हुए अनुभवों को स्मरण नहीं रख सकता। जब ऐसा व्यक्ति किसी पूर्ववर्ती घटना का प्रत्याह्वान करता है ? उस घटना का चित्रण उसके मन में पुनः हो जाता है। उसके मन में जो प्रत्यय अथवा प्रतिमाएँ उपस्थित होती हैं, वह मानो उनको फिर से देख रहा होता है। यदि ऐसा व्यक्ति किसी नाटक को देखने के पश्चात् प्रत्याह्वान करे, तो उसको अभिनेताओं के भड़कीले कपड़े, सुन्दर दृश्य इत्यादि तो याद रहेंगे, किन्तु वह संगीत, गायन-वार्त्तालाप इत्यादि भूल जायगा। दृष्टि-आत्मक स्मृति वाला व्यक्ति एक बहुत अच्छा चित्रकार अथवा मूर्तिकला में निपुण व्यक्ति बन सकता है। इसी प्रकार श्रवणप्रधान स्मृति वाला व्यक्ति नाटक का प्रत्याह्वान करते समय केवल, संगीत, गायन, वार्तालाप का ही स्मरण कर सकता है, किन्तु वह दृश्यों के अभिनेताओं की वेष-भूषा को भूल जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः गायक, कवि अथवा विख्यात् वक्ता बन सकता है। स्पर्शात्मक स्मृति वर्ग के व्यक्ति बहुत कम होते हैं। वे जब किसी घटना का प्रत्याह्वान करते हैं, केवल उन्हीं विषयों का स्मरण कर सकते हैं, जो कि उन्होंने स्पर्श किये हों। ऐसे व्यक्ति इंजीनियरिंग के व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। मिश्रित स्मृति वाला व्यक्ति दृष्टि, श्रवण तथा स्पर्श किये हुए विषयों को सामान्य रूप से स्मरण रखता है। चाहे वह एक प्रकार के प्रत्ययों का आह्वान करने में विशेषता नहीं रखता, किन्तु उसके लिए किसी एक समय पर विशेष प्रकार की स्मृति का प्रयोग करना कठिन नहीं होता। व्यक्तियों की अधिक संख्या मिश्रित स्मृति वर्ग की होती है। बहुत ही थोड़े व्यक्ति केवल दृष्टिप्रधान, श्रवणप्रधान अथवा स्पर्शप्रधान स्मृति वर्ग के होते हैं। किन्तु शिक्षक को चाहिए कि वह पढ़ाते समय इस वर्गीकरण का ध्यान रखे और पाठ को न केवल सुनाकर समाप्त कर दे, बल्कि छात्रों को काले तख्ते पर लिखकर तथा उनसे लिखवाकर समझाने का यत्न करे। इस दृष्टिकोण से छात्रों के द्वारा पुस्तकों का पढ़वाना, उन्हीं के द्वारा काले तख्ते पर प्रश्नों का हल करवाना शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार जितना अधिक लिखित कार्य कराया जा सके उतना ही अधिक उपयोगी है। अतः शिक्षा के दृष्टिकोण से शिक्षक के लिए स्मृतियों के वर्गीकरण का जानना आवश्यक है।

प्रत्ययों का परस्पर गठन (Association of ideas)—मनोजीवन का यह नियम है कि जो अनुभव एक बार इकट्ठे उपस्थित हों, वे भविष्य में इकट्ठे उपस्थित होंगे। इस प्रकार जिन वस्तुओं का हमें इकट्ठा ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उनके प्रत्यय भी

हमारे मन में परस्पर जुड़े रहते हैं और जब उन प्रत्ययों में से एक हमारे मनमें उपस्थित होता है, तो दूसरा स्वतः ही उपस्थित हो जाता है। यदि एक बार हमने एक नीले सरोवर को देखा हो तो भविष्य में किसी नीले चित्र को देखकर हमारे मन में उसी नीले सरोवर का प्रत्यय उपस्थित हो जाता है। इसका कारण केवल यही है कि जब हम दो वस्तुओं का एक साथ अनुभव करते हैं, तो उनके प्रत्ययों का आपस में जोड़ हो जाता है। प्रत्ययों के इस प्रकार जोड़ अथवा सम्बन्ध को हम प्रत्यय गठन (Association of ideas) कह सकते हैं। प्रत्ययों के इस सम्बन्ध के कारण हम पूर्ववर्ती घटनाओं अथवा अनुभवों का क्रमशः प्रत्याह्वान करते हैं। एक प्रत्यय दूसरे से, दूसरा तीसरे से और तीसरा चौथे से बँधा हुआ होता है और हमारे मन में प्रत्ययों की श्रृङ्खला-सी बँध जाती है। उदाहरणस्वरूप, मैं जब खिड़की से बाहर दृष्टिपात करते हुए, अपने पड़ोसी के कुत्ते को देखता हूँ, तो मेरे मन में उस कुत्ते के स्वामी का प्रत्यय उपस्थित हो जाता है। तत्पश्चात्, मैं एक वर्ष पहले की उस घटना का स्मरण करता हूँ, जब कि मेरा पड़ौसी मेरे घर आया था। फिर मुझे उसके वार्तालाप का स्मरण होता है। मुझे याद आता है कि मैंने उसे सहायता दी थी और मेरी सहायता से वह अपनी समस्या सुलझाने में सफल हुआ था और उसने मुझे उस सफलता के उपलक्ष्य में एक पार्टी दी थी इत्यादि। इसी प्रकार सैकड़ों अनुभव हमारे मनोजीवन में एक दूसरे से जुड़े रहते हैं, किन्तु अनुभवों का प्रत्याह्वान करते समय इन सहस्रों अनुभवों में से केवल कुछ ही हमारे मन में उपस्थित होते हैं और वे केवल वही अनुभव होते हैं, जिनका परस्पर सम्बन्ध अथवा गठन घनिष्ठ हो। परस्पर सम्बन्ध की घनिष्ठता के कई कारण हो सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दो प्रत्यय परस्पर समानता के कारण ही एक दूसरे से जुड़ जाते हैं। नीला चित्र हमें नीले आकाश की याद इसलिए दिलाता है कि क्योंकि उनमें वर्ण की समानता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को देखकर हमें अपने मित्र की याद इसलिए आती है क्योंकि उनकी शकल आपस में मिलती जुलती है। समानता (Similarity) के नियम पर ही प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध होता है, किन्तु हम यह देखते हैं कि बहुत से प्रत्यय भिन्न होते हुए भी केवल इसलिए परस्पर सम्बन्धित होते हैं, क्योंकि वह एक ही समय की अवधि में हमारे द्वारा अनुभव किये गये होते हैं। उदाहरणस्वरूप, मैं जब भी नदी पर सैर के लिए जाने का विचार करता हूँ तो सर्वदा मुझे उस मित्र की याद आती है जो कि एक दुर्घटना में नदी में डूब गया था। नदी और मित्र के प्रत्ययों का यह गठन समय की अवधि (Contingnity of time) के कारण है। हम जीवनकाल में बहुत सी वस्तुओं का समय की एक ही अवधि में अनुभव करते हैं, किन्तु केवल वही अनुभव परस्पर घनिष्ठता से सम्बन्धित होते हैं, जो बार-बार इकठे हुए हों। अतः मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दो अनुभवों का बार-बार इकठा होना (Repetition) भी उनके संगठित होने का कारण है। यह भी सम्भव है कि कुछ

अनुभव बार-बार इकट्ठे होने पर भी घनिष्ठता से सम्बन्धित न हों क्योंकि हम अनुभव करते समय उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते। अतः ध्यान अथवा अवधान (Attention) भी हमारे अनुभवों के परस्पर गठित होने का बड़ा भारी कारण है। इसके अतिरिक्त वर्तमान रुचि प्रत्ययों के परस्पर सम्बन्ध तथा उनके प्रत्याह्वान में विशेष स्थान रखती है। हमारे मन में केवल उन्हीं प्रत्ययों का प्रत्याह्वान शीघ्रता से होता है जो कि हमारी वर्तमान रुचि (Interest of the moment) के अनुकूल हो। इसके अतिरिक्त जो घटनाएँ तत्काल अथवा थोड़े समय पूर्व अनुभव की गई हों उनका प्रत्याह्वान भी बहुत शीघ्र होता है। अतः अनुभवों की तत्कालीनता भी उनके परस्पर गठन को घनिष्ठ बनाती है। शिक्षक को चाहिए कि प्रत्ययों के परस्पर गठन की इन उपाधियों का प्रयोग करे और पाठ पढ़ाते और सुनाते समय छात्रों की वर्तमान रुचि को प्रेरित करे और उन्हें सदैव सावधान रहने की शिक्षा दे और जहाँ तक हो सके पाठ को बार-बार दोहरावे। इन साधनों के द्वारा वह छात्रों के प्रत्ययों के गठन में घनिष्ठता उत्पन्न कर सकता है। इसके अतिरिक्त समानता अथवा तुलना के द्वारा भी दो अनुभवों का परस्पर सम्बन्ध सहज हो जाता है। भारतवर्ष में अकबर, बर्तानिया में एलिज़बेथ के राज्यों में समानता दर्शाकर जब अध्यापक पाठ पढ़ाता है, तो वह समानता का प्रयोग कर रहा है। इसी प्रकार जब वह अकबर तथा औरंगज़ेब की धार्मिक नीति की भिन्नता बताता है, तो वह तुलना के नियम का प्रयोग कर रहा है।

अभ्यास

१. कल्पना की क्या परिभाषा है? विस्तारपूर्वक व्याख्या करो।
२. कल्पना के भिन्न स्तरों पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि शिशु की कल्पना कौन से स्तर तक सीमित रहती है।
३. शिशु की कल्पना में कल्पनात्मक विश्वास का क्या स्थान है?
४. प्रौढ़ व्यक्तियों की कल्पना का महत्त्व क्या है? व्याख्यापूर्वक बतलाओ।
५. उत्पादक कल्पना का क्या अर्थ है और उसका हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है?
६. चिन्ता अन्तरानुभूति तथा जाग्रत स्वप्न में कहाँ तक कल्पना होती है?
७. शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से कल्पना का शिक्षा में क्या स्थान है?
८. प्रत्यय और प्रत्यक्ष ज्ञान की परस्पर तुलना करते हुए उनकी समानता तथा भिन्नता बतलाओ।
९. स्मृति के आधार पर व्यक्तियों को कौन-कौन से चार वर्गों में विभक्त किया गया है और इस विभाजन का शिक्षा से क्या सम्बन्ध है?
१०. प्रत्ययों के परस्पर गठन का क्या अर्थ है? क्या प्रत्ययों के गठन का आधार केवल समानता है?

सोलहवाँ अध्याय

विचार (Thinking)

विचारशक्ति का महत्त्व—मनुष्य विचारशील प्राणी है। उसकी विचारशक्ति ने आज उसे प्रकृति का आधिपत्य दिया है। इसी शक्ति के द्वारा वह ज्ञान विज्ञान, दर्शन इत्यादि में उन्नति कर सका है। इसी शक्ति के बलबूते पर उसने विज्ञान के संसार में उथल-पुथल पैदा कर दी है। वह आज इसी विशेषता के कारण विद्युत शक्ति, चुम्बक शक्ति एवं परमाणु शक्ति का प्रयोग करके चन्द्र तथा मंगल इत्यादि जैसे नक्षत्रों तक पहुँचने का यत्न कर रहा है। यह विचारशक्ति ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। शिक्षा-मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से विचार की प्रक्रिया का बहुत बड़ा महत्त्व है। यदि मनुष्यमात्र में विचारशक्ति न होती, तो वह न तो कुछ बोल सकता, न लिख सकता और न ही पढ़ सकता। दूसरे शब्दों में उसके सीखने की कोई सम्भावना ही न होती। किन्तु यह विचार-शक्ति, जो कि हमारी शिक्षा का एकमात्र आधार है, शिशु में एक साथ एक ही मात्रा में उपस्थित नहीं होती। विचार और तर्क सर्वोच्च मानसिक प्रक्रिया हैं; और अन्य उच्च प्रक्रियाओं की भाँति बालक में क्रमशः विकसित होती हैं।

सामान्य प्रत्यय का निर्माण—शिशु का ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान से आरम्भ होता है। ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता है उसका ऐन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में परिवर्तित होता जाता है। दूसरे शब्दों में वह जो कुछ देखता है, सुनता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, अथवा चखता है तो उसका अर्थ समझने लगता है और उसमें वस्तुता (Thing-hood) को पाता है। जब एक बालक किसी वस्तु का पहली बार अनुभव करता है और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, तो उसके मन में उस वस्तु विशेष की प्रतिमा-सी बन जाती है। भविष्य में, जब उस वस्तु विशेष की अनुपस्थिति में उसका नाम शिशु के सामने लिया जाय, तो उसके मन में, उसी वस्तु का चित्र-सा खिंच जाता है। शिशु के मन में खिंचे हुए इस विशेष चित्र अथवा प्रतिमा को मनोवैज्ञानिक भाषा में प्रत्यय (Percept or idea) कहते हैं। शिशु जिस-जिस वस्तु का निरीक्षण करता है, उसका प्रत्यय उसके मन में बन जाता है। मान लो कि एक बालक अपनी आयु में पहली बार मोटरकार को देखता है; उसको मोटर पर बिठाकर नगर की यात्रा कराई जाती है और उसके पश्चात् उसे अपने गाँव में वापस भेज दिया जाता है। अब यदि उसके सामने मोटरकार का नाम लिया जाय, तो उसके मन में उस विशेष मोटरकार का चित्र खिंच जायगा अर्थात् उसके मन में उस मोटरकार का प्रत्यय बन जायगा। प्रत्यय विचार प्रक्रिया के विकास में पहली सीढ़ी है। जब शिशु अनेक प्रकार के प्रत्ययों का अनुभव करता है, जब वह एक ही वस्तु अथवा

व्यक्ति का भिन्न अवस्थाओं में तथा भिन्न रूपों में निरीक्षण करता है, तो उस व्यक्ति अथवा वस्तु के विषय में उसका ज्ञान विस्तृत हो जाता है और उसका प्रत्यय विशेष प्रत्यय नहीं रहता। वह उस प्रत्यय की अन्य प्रत्ययों से तुलना करता है; उसके विशेष गुणों को ग्रहण करता है; उनकी समानता तथा भिन्नता का अनुभव करता है और अन्त में उसके सामान्य लक्षणों का विश्लेषण तथा संश्लेषण करके, उसको एकरूपता का नामकरण करता है। इस अवस्था में उसका प्रत्यय सामान्य प्रत्यय बन जाता है। उदाहरणस्वरूप, मान लो कि वह बालक, जिसने कि पहले एक मोटरकार का निरीक्षण किया था, एक बड़े नगर में जाता है, वहाँ उसे अनेक मोटरकारों को देखने का अवसर मिलता है। वह भिन्न प्रकार की बड़ी, छोटी, लाल, पीली, हरी छत वाली तथा बिना छत वाली मोटर-कारों का निरीक्षण करता है, जिसके द्वारा उसके मन में मोटरकार के प्रति बहुत से प्रत्यय बन जाते हैं। इन बहुत से प्रत्ययों को वह आपस में तुलना करता है। जैसे बड़ी छोटी, चमकदार रंग वाली काली, हरी और लाल इत्यादि। उनमें भिन्नता के होते हुए भी कुछ-न-कुछ समानता दीख पड़ता है। उस समानता के विशेष लक्षणों को वह पृथक् कर लेता है। इस पृथक् करने की क्रिया को प्रत्याहार (Abstraction) कहते हैं। इस प्रकार वह मोटरकार के विशेष लक्षणों तथा गुणों का विश्लेषण करके उसमें एकरूपता का अनुभव करता है। भिन्न मोटरकारों में वह एक जातीयता देखता है और उन विशेष लक्षणों को इकट्ठा करके मोटरकार का नाम देता है। उपरोक्त विश्लेषण के द्वारा बालक में सामान्य प्रत्यय का निर्माण होता है। इस प्रक्रिया में निम्नलिखित क्रम से सामान्य प्रत्यय बनता है—

१. निरीक्षण (Observation)।

२. तुलना (Comparison)।

३. प्रत्याहार (Abstraction)।

४. जातीयता (Generalization)।

५. नामकरण (Naming or nomination)।

शिक्षा के दृष्टिकोण से सामान्य प्रत्ययों का निर्माण बालक की उन्नति के लिए बहुत ही आवश्यक है। शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों को परिभाषाएँ रटाने की अपेक्षा स्वतन्त्रतापूर्वक सामान्य प्रत्ययों का निर्माण करने का अवसर दें। बालक जिस वस्तु का स्वयं अनुभव करके विश्लेषण तथा संश्लेषण द्वारा ज्ञान प्राप्त करेगा अथवा सामान्य प्रत्यय बनायेगा, वह उसको कभी भूल नहीं सकता। अध्यापक प्रायः बालकों को, व्याकरण में, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण इत्यादि की परिभाषाएँ रटवा देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि बालक बिना समझे उनकी परिभाषाओं को तो रट लेता है, किन्तु उनका अर्थ नहीं जान सकता, इसलिए वह अध्ययन में रुचि नहीं रखता और न ही वह इन

परिभाषाओं को चिरकाल तक स्मरण रख सकता है। यदि शिशुओं को स्वयं ही परिभाषाओं के खोजने का अवसर दिया जाय, वे स्वयं ही सामान्य प्रत्ययों का निर्माण करें और उसके पश्चात् उन्हें निर्मित परिभाषाएँ स्मरण कराई जायँ, तो उनका ज्ञान विस्तृत होगा और उनकी परिभाषाओं की स्मृति चिरस्थायी और जीवन में उपयोगी होगी।

निर्णय—विचार की प्रक्रिया का विकास केवल सामान्य प्रत्यय पर ही समाप्त नहीं होता। शिशु जब बड़ा होता है, वह न केवल सामान्य प्रत्ययों को जानता है, बल्कि वह एक सामान्य प्रत्यय का दूसरे सामान्य प्रत्यय के साथ सम्बन्ध जोड़ना भी सीख जाता है और भिन्न-भिन्न सामान्य प्रत्ययों के सम्बन्ध में नये गुणों की खोज करके निरन्तर गुणों और प्रत्ययों के परस्पर सम्बन्ध जोड़ता रहता है। विचार की इस क्रिया को मनोवैज्ञानिक भाषा में निर्णय कहते हैं। साधारणतया निर्णय हमारे दो अथवा दो से अधिक सामान्य प्रत्ययों की तुलना करने की क्रिया को कहते हैं। ऐसी तुलना करते समय दो वस्तुओं में अथवा दो गुणों में, अथवा एक वस्तु और एक गुण में परस्पर सम्बन्ध का बोध होता है। इस प्रकार निर्णय में हम निश्चयपूर्वक दो विचारों को अथवा प्रत्ययों को एक नये जटिल विचार में परिवर्तित कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप घोड़ा एक प्रत्यय है और श्वेत एक गुण है अथवा अन्य प्रत्यय है। जब हम इन दो प्रत्ययों को जोड़कर कह देते हैं कि 'घोड़ा श्वेत है' तो हम निर्णय कर रहे हैं। इस उदाहरण में हमारा मन चैतन्य रूप से घोड़े के प्रत्यय को तथा श्वेत के प्रत्यय को परस्पर जोड़कर, श्वेत घोड़े के जटिल विचार में परिवर्तित कर देता है। अतः निर्णय की क्रिया में हमारा मन प्रत्ययों का संश्लेषण करता है। निर्णय का यह संश्लेषण किसी उद्देश्य को सामने रखकर किया जाता है। जब कभी हमारे सम्मुख नई परिस्थिति उत्पन्न होती है, हम निर्णय करने के लिए तत्पर होते हैं, हमारे सामने यदि किसी प्रकार की जटिल समस्या न हो, तो हम कदापि निर्णय न करें। निर्णय में हम अपने पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर नई समस्या का सुलझाव उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार बालक भी अपनी आवश्यकता के अनुसार निर्णय करता है, परन्तु बालकों का निर्णय प्रौढ़ों जैसा नहीं होता, क्योंकि उनका अनुभव तथा ज्ञान सीमित होता है। प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि शिशु प्रत्येक अवस्था में निर्णय करने की चेष्टा करता है। आदि में उसका निर्णय बहुत नीचे स्तर पर होता है, इतने तक कि हम उसके निर्णय और सामान्य प्रत्यय में अन्तर नहीं बतला सकते। जब शिशु भूखा होता है और चिल्ला कर 'माँ' पुकारता है तो उस समय 'माँ' शब्द का अर्थ 'माँ' के प्रत्यय से नहीं है अपितु वह एक पूर्ण वाक्य अथवा निर्णय है जिसका अर्थ है कि 'माँ! मुझे भूख लगी है।' इसी प्रकार शिशु भाषा के अभाव के कारण केवल एक ही शब्द में अनेक प्रकार के निर्णय प्रकट करता है। ज्यों-ज्यों उसकी शब्दावली बढ़ती जाती है, वह अधिक स्पष्टता से अपने निर्णय प्रकट करता है। उदाहरणस्वरूप,

एक दो वर्ष के शिशु ने, गंजे सर वाले पितामह को मिलने के पश्चात्, अपनी उस गुड़िया को जिसके कि बाल उखड़ गये थे, पितामह बतलाया। इससे यह प्रकट होता है कि दो वर्ष के शिशु में भी नई परिस्थिति में पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर निर्णय करने की क्षमता होती है। एक तीन साल के शिशु ने जब अपने पिता को एक दिन प्रतिदिन की अपेक्षा अधिक समय तक नींद करते हुए देखा, तो उसने पूछा कि क्या आज रविवार की प्रातः है। इसी प्रकार पाँच वर्ष का शिशु समानता के आधार पर स्पष्ट रूप में निर्णय कर सकता है। सात से नौ वर्ष का शिशु तो आलोचनात्मक निर्णय करने के योग्य भी हो जाता है। शिशुओं को स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करने का अवसर देना चाहिए, ताकि वे अपने अनुभव के आधार पर अपने आपको नई परिस्थितियों के अनुकूल बना सकें।

तर्क—विचार वास्तव में मानसिक यात्रा है, जो कि एक नवीन खोज में समाप्त होती है। जिस प्रकार कि एक यात्री भिन्न स्थानों का भ्रमण करके अन्त में अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है, उसी प्रकार विचार की प्रक्रिया में हम भिन्न-भिन्न निर्णयों के द्वारा अन्त में अनुमान पर पहुँचते हैं। जिस समय एक निर्णय से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा उत्पन्न होता है, तो एक प्रकार का निर्णयों का ताँता बँध जाता है। इस प्रकार के निर्णयों की निरन्तर धारा को मनोवैज्ञानिक भाषा में तर्क का नाम दिया जाता है। तर्क में हम भिन्न निर्णयों को सामने रखकर अन्त में एक विशेष निर्णय पर पहुँचते हैं, जो कि हमारे प्रयोजन को सिद्ध करता है। हम जब देखते हैं कि बाहर वर्षा हो रही है, तो हम मन में यह अनुमान करते हैं कि हमें छाता लेकर बाहर निकलना चाहिए। वास्तव में यह अनुमान दो-तीन निर्णयों का परिणाम है। पहला निर्णय यह है कि वर्षा हो रही है, दूसरा निर्णय यह है कि वर्षा में मनुष्य भीग जाता है, तीसरा निर्णय यह है कि छाते से मनुष्य नहीं भीगता। अतः परिणाम यह निकला कि हमें छाता लेकर बाहर निकलना चाहिए। साधारणतया हम केवल एक ही निर्णय को प्रकट करते हैं, किन्तु वास्तव में वह निर्णय एक नहीं होता अपितु अनेक निर्णयों का परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में वह तर्क होता है। संक्षिप्त रूप में हम एक से अधिक निर्णयों की तुलना के परिणाम को तर्क कहते हैं। तर्क विचार की प्रक्रिया की पराकाष्ठा है। तर्क के द्वारा ही मनुष्य ने ज्ञान और विज्ञान में उन्नति की है और तर्क ही के द्वारा विज्ञान के बड़े-बड़े सामान्य नियमों का निर्माण हुआ है। न्यूटन ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए, फल को गिरते देखा। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि फल क्यों गिरता है? इस प्रश्न का उत्तर उसने स्वयं ही अन्य पदार्थों के गिरने के निर्णय से दिया। उसके मन में प्रश्न हुआ कि सब पदार्थ क्यों गिरते हैं? भूमि में ऐसा आकर्षण क्यों है? इस प्रकार तर्क करने के पश्चात्, उसने भौतिक आकर्षण के नियम को खोज निकाला। शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों पर अपना तर्क थोपने की अपेक्षा उनको स्वयं अनुमान लगाने का अवसर दे। ऐसा करने से बालकों की तर्क-शक्ति की वृद्धि होती

हैं और उनकी विचार की प्रक्रिया का विकास होता है। किन्तु अध्यापक को यह स्मरण रखना चाहिए कि बालक की विचार-शक्ति प्रौढ़ों की भाँति परिपक्व नहीं होती। अतः वह अनुमान लगाने में अशुद्धि भी कर सकता है। इसलिए बालक को सर्वदा शिक्षक की सहायता की आवश्यकता रहती है। बालकों की विचार-शक्ति को प्रोत्साहन देने का सबसे अच्छा उपाय, पाठशालाओं में भिन्न-भिन्न विषयों पर वाद-विवाद का आयोजन करना है। वाद-विवाद के आयोजन का एक लाभ तो यह है कि बालकों की विचार-शक्ति की वृद्धि होती है। दूसरा, जिस विषय पर वाद-विवाद किया जाता है, उस विषय के प्रति बालकों का ज्ञान विस्तृत हो जाता है और वाद-विवाद में प्रकट किये हुए विचारों की स्मृति उनके मन में चिरकाल तक बनी रहती है। इसके अतिरिक्त बालकों को पढ़ाते समय भी उनकी तर्क शक्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए। यदि बालकों को पाठ में कुछ सन्देह हो तो उसका निवारण करने के लिए उनको पढ़ाने के पश्चात् प्रश्न करने का अवसर देना चाहिए। प्रायः अध्यापक तथा माता-पिता बालक को प्रश्न करने का अवसर नहीं देते। यदि वह वाद-विवाद करने की चेष्टा करे, तो उसकी उत्सुकता को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा डरा-धमकाकर उसे मौन कर दिया जाता है। किन्तु बालक के साथ ऐसा दमन का व्यवहार करना घोर अत्याचार है। ऐसा करने से बालक कदापि जिज्ञासु नहीं बन सकता और न ही उसकी विचार-शक्ति का सुचारु रूप से विकास हो सकता है।

तर्क के दो रूप माने गये हैं : प्रथम, निगमन (Deduction) और द्वितीय, आगमन (Induction)। जब हम सामान्य निर्णय से आरम्भ करके एक विशेष निर्णय पर पहुँचते हैं, तो हम निगमन तर्क का प्रयोग कर रहे होते हैं उदाहरणस्वरूप, निम्न-लिखित तर्क निगमन हैं—

सब मनुष्य नश्वर हैं। मोहन मनुष्य है; अतः मोहन नश्वर है। जब हम विशेष निर्णय से चलकर सामान्य निर्णय पर पहुँचते हैं, तो हमारा तर्क आगमन होता है। उदाहरण के तौर पर मान लो कि हम कुनीन की औषधि का प्रभाव मलेरिया के रोग पर देखना चाहते हैं। हम मलेरिया के एक रोगी को कुनीन देते हैं और वह स्वस्थ हो जाता है। फिर दूसरे को और फिर तीसरे को, इसी प्रकार अनेक रोगियों को कुनीन देने पर एक ही परिणाम निकलता है। अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कुनीन मलेरिया के कीटाणुओं को समाप्त कर देती है। इस प्रकार, विचार की प्रक्रिया में विश्लेषण (Analysis) तथा संश्लेषण (Synthesis) दोनों का प्रयोग करना पड़ता है, जिसके द्वारा शिशु के मानसिक विकास की वृद्धि हो सकती है। निगमन तथा आगमन, दोनों प्रकार के तर्क में शिशु की विचार-शक्ति का प्रयोग होता है। अध्यापकों को चाहिए वे छात्रों को स्वयं ही अनुमान लगाने का अवसर दिया करें। अनुमान में पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर नई समस्या का सुलझाव करना पड़ता है। जब शिशु स्वयं ही तर्क का प्रयोग

करता है, तो वह अपनी समस्याओं को सुलझाना सीख जाता है, किन्तु शिशु के तर्क में मौलिकता नहीं होती। अतः अध्यापक की देख-रेख आवश्यक हो जाती है। प्रायः अध्यापक इस प्रकार का निरीक्षण करते समय छात्र को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार नहीं करने देते, किन्तु ऐसा करना भारी भूल है। यदि छात्रों को अध्यापक की देख-रेख में विचार की स्वतन्त्रता दे दी जाय, तो वह कार्य को अधिक कुशलता से कर सकते हैं।

छात्रों को पढ़ाते समय उनमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का अभ्यास डालने के लिए, उनसे प्रश्न पूछना अधिक उपयोगी होता है। गणित तथा ज्योमैट्री के अभ्यास कराने से छात्रों के निगमन तर्क का विकास होता है और वे सामान्य नियमों का विशेष परिस्थिति में प्रयोग कर सकते हैं। भूगोल, सामाजिक विज्ञान तथा प्राकृतिक विज्ञान इत्यादि के प्रश्न पूछने से छात्रों का आगमन तर्क विकसित होता है। ऊपर लिखे हुए साधनों के द्वारा छात्रों की विचार प्रक्रिया का शिक्षा में सदुपयोग कराया जा सकता है।

विचार और भाषा (Thought and language)—विचारों का भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार-प्रवाह प्रायः हमारी शब्दावली के आधार पर होता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोगों के पश्चात् यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विचार हमारा आन्तरिक भाषण है (Thought is an inner speech)। देखा गया है कि जिस समय हम विचार करते हैं, हमारे कंठ में भाषण यन्त्र (Speech organ) वैसा ही कार्य करता है जैसा कि उसे बोलते समय करना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं अपितु बहुत से व्यक्ति विचार करते समय फुसफुसाते हैं और कुछ व्यक्ति तो विशेषकर गणित के प्रश्नों का हल करते समय ऊँचे स्वर से बोलते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। किन्तु ऐसी बातों से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि भाषा ही का दूसरा नाम विचार है। यदि केवल बोलना ही विचार-प्रक्रिया होती, तो तोता-रटन्त और विचार में कोई अन्तर नहीं होता। एक अपढ़ व्यक्ति भी अंग्रेजी भाषा की कविता को रट सकता है, किन्तु जब वह इसी प्रकार की रटी हुई कविता को बोल रहा होता है, तो वह विचार का प्रयोग नहीं कर रहा होता। इसी प्रकार छोटे शिशु आदर्श विचारों को रट तो सकते हैं, किन्तु वे उन पर विचार नहीं कर सकते। अतः भाषण और विचार कदापि एक नहीं समझे जा सकते।

किन्तु फिर भी ये दोनों अन्योन्याश्रित क्रियाएँ हैं। भाषा और विचार दोनों मनुष्य की विशेष प्रवृत्तियाँ हैं। इन दोनों का विकास तथा वृद्धि एक साथ होती है। जब तक कि शिशु विचार करने के योग्य नहीं होता, जब तक कि वह शब्दों के अर्थ को नहीं समझता, उस समय तक वह शब्दों के उच्चारण करने के योग्य भी नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसकी विचार-शक्ति बढ़ती है, उसके शब्दों का कोष भी बढ़ता चला जाता है। जितनी उसकी शब्दावली बढ़ती है उतना ही वह अधिक विचार करता है। प्रायः एक ढाई वर्ष के

बालक की शब्दावली तीन सौ शब्दों की होती है। किन्तु उसमें से आधे से अधिक शब्दों के अर्थ को वह भलीभाँति नहीं समझता। इससे यह प्रकट होता है कि भाषा की प्रगति विचारों की अपेक्षा शीघ्रता से होती है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल भाषा के द्वारा ही हम अपने विचारों को प्रकट करते हैं। भाषा का आविष्कार मनुष्य की बौद्धिक, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक प्रगति का मूल कारण है। भाषा विचारों को प्रकट करने का एकमात्र साधन है। इसके अतिरिक्त, वह मनुष्यमात्र के विचारों को सर्वदा के लिए सुरक्षित रखने का भी साधन है। यदि भाषा का आविष्कार न होता, तो आज हम प्राचीन विद्वानों, दार्शनिकों, कवियों तथा वैज्ञानिकों के विचारों से वंचित रह जाते।

अतः बालक की विचार-शक्ति की वृद्धि के लिए उसको प्रवीण बनाना बहुत आवश्यक है। अतः अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह शिशुओं को नये-नये शब्दों से परिचित कराये। ऐसा करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक नवीन शब्दों का शिशु के पूर्ववर्ती ज्ञान से सम्बन्ध नहीं होगा, तो केवल उस शब्द को रटवा देना, शिशु के मानसिक विकास के लिए तनिक भर भी उपयोगी नहीं है। बालकों की अवस्था के अनुसार ही उन्हें भाषा का प्रयोग कराना चाहिए। बहुत छोटे बालक न तो क्लिष्ट भाषा का प्रयोग कर सकते हैं और न ही ऐसी भाषा का अर्थ समझना कोई साधारण बात है। अतः पाठ पढ़ाते समय, शिक्षक को बालकों की अपरिपक्व विचार-शक्ति तथा सीमित शब्दावली का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

अभ्यास

१. 'मनुष्य विचारशील प्राणी है', इस कथन पर प्रकाश डालते हुए, मनुष्य के जीवन में विचार की प्रधानता की विशेषता बतलाओ।
२. विचार की प्रक्रिया में सामान्य प्रत्ययों का निर्माण कैसे होता है?
३. सामान्य प्रत्ययों के निर्माण की व्याख्या के आधार पर, शिशुओं की शिक्षा में क्या-क्या परिवर्तन करने चाहिएँ?
४. विचार-प्रक्रिया के विकास में निर्णय का क्या स्थान है?
५. प्रौढ़ व्यक्तियों तथा शिशुओं के निर्णय की तुलना करते हुए उनकी समानता और विभिन्नता पर प्रकाश डालो।
६. 'तर्क विचार-प्रक्रिया की अन्तिम सीढ़ी है', इस कथन की व्याख्या करो और सिद्ध करो कि विचार-प्रक्रिया में विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों का प्रयोग होता है।
७. विद्यालय में शिशुओं को विचार-शक्ति के विकास के लिए कौन-कौनसे उपाय करने चाहिएँ?
८. विचार और भाषा का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए बतलाओ कि वे दोनों कहाँ तक एक दूसरे पर आश्रित हैं।

सत्रहवाँ अध्याय

सीखना (Learning)

सीखने का महत्त्व—मनोविज्ञान का शिक्षा के साथ केवल इतना सम्बन्ध है कि यह हमें यह बतलाता है कि शिक्षा के आदर्श वास्तव में किस सीमा तक क्रियात्मक बनाये जा सकते हैं। सामाजिक, नैतिक तथा वैज्ञानिक आदर्शों के आधार पर बालक को शिक्षा देने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि वह कहाँ तक इन आदर्शों को सीखने के योग्य है। यदि बालक किसी क्रिया अथवा विचार को ग्रहण करने के योग्य ही नहीं है, तो उसको शिक्षा कैसे दी जा सकती है? मनोविज्ञान बालक की मनोवृत्तियों तथा उसकी ग्रहण करने की योग्यता का केवल विश्लेषण करता है और वह विश्लेषण शिक्षक के लिए तभी लाभदायक हो सकता है, जब वह मनोविज्ञान के नियमों को भलीभाँति समझकर उनके आधार पर चलता हुआ बालकों पर कम-से-कम दबाव डालकर शिक्षा दे। इस दृष्टि-कोण के अनुसार शिक्षक के लिए यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि सीखने की प्रक्रिया क्या है और उसका आधार कौनसे मनोवैज्ञानिक नियम हैं। 'सीखने' का अर्थ केवल पूर्ववर्ती अनुभव से लाभ उठाकर, नई परिस्थिति में उसी के आधार पर व्यवहार करना है। प्राणीमात्र में सीखने की योग्यता की सम्भावना है। छोटे से कीटाणु से लेकर मनुष्य तक सब जीव अपने पूर्ववर्ती अनुभव के आधार पर अपने व्यवहार को परिवर्तित करते हैं। कुछ उदाहरणों का परीक्षणों के साथ अध्ययन करने के पश्चात्, हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि 'सीखने' में कौन-कौनसे नियम लागू होते हैं; श्री गाडफ्रे थॉमसन (Godfrey Thomson) ने जल में रहने वाले एक बहुत छोटे कीटाणु स्टैन्टर (Stentor) के 'सीखने' के सम्बन्ध में जो परीक्षण किये उसका निम्न प्रकार से वर्णन किया है। स्टैन्टर शब्द का अर्थ तो 'विशद शब्द करने वाला व्यक्ति' है। किन्तु यहाँ स्टैन्टर से वह सूक्ष्म कीटाणु अभिप्रेत है जो सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र (Microscope) द्वारा ही दीख पड़ता है। इसका आकार तुरही की भाँति होता है। इसकी सुरक्षा के लिए एक नली-सी होती है, जिसमें कि यह कीटाणु घुस जाता है। इसकी खूराक, खाने के पदार्थों के उन सूक्ष्म अणुओं द्वारा उसके पेट में पहुँचती है, जो कि पानी के साथ लगे रहते है। जिस समय कोई प्रतिकूल पदार्थ उसके मुख में घुस जाता है, तब पहले तो वह एक ओर को झुककर उससे बचने का प्रयत्न करता है, किन्तु जब वह इस यत्न में सफल नहीं हो पाता है, तब अपने कोमल अंगों द्वारा पानी के बहाव को अपने से उल्टी दिशा की ओर धकेलता है। इस प्रकार की यह क्रिया उस समय स्पष्ट देखी जा सकती है, जब कि थोड़ा-सा लाल रंग पानी में डाल दिया जाय। यदि वह कीटाणु प्रतिकूल वस्तु के विरुद्ध

संघर्ष करता हुआ अपने अनेक प्रयत्नों में भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता है, तब वह कुछ काल के लिए अपनी नली में घुसकर बैठ जाता है, और फिर बाहर निकल आता है। अब यदि पानी में फिर लाल रंग मिला दिया जाय, तो हम स्पष्ट देखेंगे कि वह अपने पहले यत्नों को दोहराता है। वह पहले एक ओर को झुकता है, फिर पानी के बहाव को प्रतिकूल दिशा की ओर करने का प्रयत्न करता है और अन्त में नली में घुस जाता है। परीक्षणों द्वारा पता चला है कि यदि बार-बार इस प्रकार पानी में लाल रंग मिला दिया जाय, तो इस कीटाणु का अपने अंगों की गति के द्वारा पानी के बहाव को अपने से दूसरी दिशा में करके, इस प्रतिकूल पदार्थ से छुटकारा पाने का यत्न धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और अन्त में वह नली में आश्रय लेता है। इसी तरह यदि निरन्तर रंग को पानी में मिलाया जाय, तो वह कीटाणु तंग आकर उस स्थान को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर चला जाता है।

गोरखधन्धे का प्रयोग (Puzzle-box experiment)—यदि एक भूखी, हृष्ट-पुष्ट बिल्ली को किसी भूलभुलैयाँ वाले विचित्र पिंजरे में बन्द कर दिया जाय और मांस का एक टुकड़ा उसके पिंजरे के बाहर निकट ही रख दिया जाय, तो वह बिल्ली क्रिया आरम्भ करती है। वह पिंजरे की सलाखों के मध्य में से अपना पंजा बाहर निकाल कर मांस-खण्ड को पाने का यत्न करती है, किन्तु मांस के टुकड़े तक नहीं पहुँच सकती है; वह अपने मुँह को सलाखों में घुसा देती है, किन्तु वह बाहर नहीं निकल सकती। वह सलाखों को दाँतों से काटती है, प्रत्येक वस्तु पर झपट्टा मारती है, प्रत्येक ढीली वस्तु को हिलाती है, झटके देती है और गोरखधन्धे के एक-एक भाग पर प्रहार करती है। इस प्रकार लगातार बार-बार असफल क्रियाओं के करने के पश्चात् वह अचानक कुंजी घुमाती है जिससे द्वार खुल जाता है। वह बाहर निकलती है और मांस खा लेती है। प्रयोग करने वाला बिल्ली के इस पहले प्रयास में लगे समय को लिख लेता है और बिल्ली को फिर भूखी अवस्था में उसी प्रकार पिंजरे में बन्द कर देता है और एक और मांस के टुकड़े को बाहर रख देता है। बिल्ली फिर पहले के समान ही क्रियाओं को दोहराती है, किन्तु अब पहले की अपेक्षा शीघ्रतया बाहर निकल आती है। कुछ दिनों के निरन्तर अभ्यास में बाहर निकलने का समय धीरे-धीरे कम होता जाता है। धीरे-धीरे व्यर्थतापूर्ण क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं। अन्त में अभ्यास से वह समय उपस्थित हो जाता है जब ज्यों ही बिल्ली को पिंजरे में रखा जाता है, वह उसके द्वार पर जाती है, कुंजी को घुमाती है और बाहर निकलकर मांस का टुकड़ा खाना आरम्भ कर देती है। यह सारी जटिल प्रतिक्रिया वह अब एक या दो क्षणों में ही पूर्ण कर लेती है। प्रायः पन्द्रह या बीस बार इस प्रकार अभ्यास करने के द्वारा बिल्ली इस क्रिया को सीख जाती है। यह 'सीखना' सहसा नहीं अपितु धीरे-धीरे होता है।

प्रयास और भूल (Trial and Error)—इस प्रयोग में हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है, जिससे यह सिद्ध होता हो कि बिल्ली तर्क के द्वारा पिंजरे से बाहर निकलना सीखती है। अतः यह स्पष्ट है कि उसका व्यवहार पूर्वकल्पित नहीं होता, अपितु प्रेरित होता है। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं कि बिल्ली इस बात का निरीक्षण करती हो कि वह किस युक्ति से बाहर निकलती है। यदि वह निरीक्षण करने के योग्य होती तो निकलने के लिए समय में न्यूनता सहसा ही आ जाती, धीरे-धीरे न आती। ये दोनों उदाहरण 'प्रयास और भूल' के द्वारा सीखने के हैं। प्रयास और भूल द्वारा सीखना (Learning by trial and error) क्रिया के द्वारा होता है और तर्क अथवा निरीक्षण के द्वारा नहीं होता। स्टैन्टर कीटाणु का पानी में प्रतिकूल पदार्थ के होने पर एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना, केवल जाने की क्रिया द्वारा ही सीखना है न कि इस बात का निरीक्षण करके कि वह कैसे जाता है। इसी प्रकार बिल्ली पिंजरे से बाहर निकलना, बार-बार निकलने की क्रिया द्वारा ही सीखती है न कि इस बात का निरीक्षण करने के द्वारा कि वह कैसे बाहर निकलती है।

'प्रयास और भूल द्वारा सीखना' केवल पशुओं तक सीमित नहीं है, अपितु **मनुष्य** भी बहुत-सी क्रियाओं को इस विधि से सीखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह **विचार-शक्ति** के कारण, पशुओं की अपेक्षा इस 'सीखने' में अधिक शीघ्रता से सफलता **प्राप्त** करता है, किन्तु उसे भी ठीक वैसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जैसी कि अन्य पशुओं को हैं। श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने मनुष्यों पर गोरखधन्धे के जो प्रयोग किये उनमें से एक का निम्न प्रकार से वर्णन करते हैं—

"पशुओं पर प्रयोग करते समय, जो 'गोरखधन्धे' प्रयोग में लाये जाते हैं, वह प्रौढ़ मनुष्यों पर प्रयोग करने के लिए बहुत साधारण कोटि के सिद्ध हुए हैं अतः मनुष्यों पर इस सम्बन्ध में परीक्षण करने के लिए अधिक पेचीदे व यान्त्रिक गोरखधन्धे को प्रयोग में लाया जाता है। प्रयोग करने वाला एक अनुभवकर्त्ता (Subject) को एक बिलकुल अपरिचित पहेली हल करने को देता है और उसको सुलझाने में अनुभवकर्त्ता जितना समय लेता है, वह उसे लिख लेता है। इस प्रकार उसे बार-बार तब तक अभ्यास कराया जाता है, जब तक कि वह पहेली को सुलझाने में निपुण नहीं हो जाता है। समय को लिख लेने के अतिरिक्त प्रयोग करने वाला, अनुभवकर्त्ता की प्रतिक्रियाओं का भी निरीक्षण करता है और अनुभवकर्त्ता स्वयं भी प्रत्येक प्रयास के पश्चात्, जो कुछ उसने पहेली को सुलझाने के काल में निरीक्षण किया हो, उसका प्रत्याह्वान (Recall) करने का यत्न करता है। मनुष्य अनुभवकर्त्ता अपने पहले प्रयास में, 'प्रयास और भूल की रीति' का प्रयोग करता है। वह प्रेरित क्रिया का प्रयोग करता है। पहेली प्रायः इस प्रकार की होती है कि उसमें से अनुभवकर्त्ता को बाहर निकलने का रास्ता ढूंढ़ना पड़ता है। अतः

मानव अनुभवकर्ता जब कोई सम्भव रास्ता देखता है तो उसके द्वारा बाहर निकलने का यत्न करता है। किन्तु जब आगे चलकर वह रास्ता रुका पाता है, तो वह वापिस लौट पड़ता है और फिर और दूसरा रास्ता ढूँढ़ने का यत्न करता है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह असफल प्रतिक्रियाओं को छोड़ देता है और सफल प्रतिक्रियाओं को ग्रहण कर लेता है। कई बार अभ्यास करने के पश्चात्, वह कुछ क्षणों में ही पहेली को सुलझा लेता है।"

अनुकरण के द्वारा सीखना (Learning by imitation)—सीखना केवल प्रयास और भूल की विधि से ही नहीं होता, अपितु अनुकरण के द्वारा भी होता है। किन्तु विद्वानों ने अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि "अनुकरण के द्वारा सीखना" विशेषतया मानवीय है। मानव शिशु, यदि बहुत छोटा न हो तो बड़ों का अनुकरण करके बहुत सी क्रियाएँ स्वयं ही सीख लेता है, किन्तु किसी भी उम्र का पशु इस प्रकार नहीं सीख सकता है। एक प्रयोग करने वाले ने एक ऐसी बिल्ली को लिया जो कि गोरखधन्धे से बाहर निकलना सीख चुकी थी और दूसरी ऐसी बिल्ली को लिया जो कि इस प्रकार की क्रिया से सर्वथा अपरिचित थी। बाहर निकलना सीखी हुई बिल्ली ने अपरिचित बिल्ली के सामने कुंजी को घुमाकर गोरखधन्धी पिंजरे का दरवाजा खोला और बाहर निकल आई; किन्तु जब नई बिल्ली को उस गोरखधन्धे में रखा गया, तो उसने 'प्रयास और भूल की रीति' के द्वारा ही दरवाजा खोला। ऐसा करने में उसने उतना ही समय लगाया, जितना कि एक बिना सीखी बिल्ली पहली बार लगाती है। इसी प्रकार बन्दरों पर तथा वनमानुषों पर जो प्रयोग किये गये हैं, उन सबका परिणाम इसी नियम को सिद्ध करता है कि पशु अनुकरण से विशेष लाभ नहीं उठा सकते हैं।

सूझ द्वारा सीखना (Learning by insight)—सूझ द्वारा सीखने का अर्थ, किसी नई परिस्थिति को पूर्ववर्ती ज्ञान के आधार पर सुलझा लेना है। इस प्रकार के सीखने में अनुभवकर्ता को बार-बार प्रयास नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह सारी परिस्थिति को भाँप लेता है। एक वनमानुष पर इसी प्रकार का प्रयोग किया गया। एक साधारण गोरखधन्धे में एक वनमानुष को रखा गया। वह गोरखधन्धा केवल एक कुंजी को घुमाने से ही खुल जाता था। उसके बाहर एक केला रखा गया। वनमानुष ने तुरन्त दरवाजा ढूँढ़ लिया; एक हाथ से कुंजी को घुमाया और दूसरे हाथ से दरवाजा खोलकर वह बाहर निकल गया। तीन बार इसी प्रकार अभ्यास करने के पश्चात् उसने वह निपुणता प्राप्त कर ली जो कि बिल्ली ने पन्द्रह बार अभ्यास करने के पश्चात् प्राप्त की थी। इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ सीमा तक वनमानुष 'सूझ' के द्वारा सीख सकते हैं। किन्तु कुछ और प्रयोगों के बाद यह देखा गया है कि वनमानुष प्रौढ़ मनुष्य की तरह 'सूझ' के द्वारा नहीं सीख सकता। एक वनमानुष को एक पिंजरे में बन्द कर दिया गया और पिंजरे से कुछ दूरी पर बाहर एक केला रखा गया। उस पिंजरे में दो ऐसी छड़ियाँ

रखी गईं, जो आपस में जुड़ सकती थीं। केला इतनी दूरी पर रखा था कि एक छड़ी के द्वारा वह नहीं छुआ जा सकता था, किन्तु दोनों छड़ियों को आपस में एक के आगे दूसरी को जोड़ने के पश्चात् केला घसीटा जा सकता था। अब उस वनमानुष ने एक घण्टे से अधिक समय तक केले को खींचने का यत्न किया, किन्तु अन्त में निराश होकर एक कोने में बैठ गया। कुछ समय के पश्चात् जब कि वह दोनों छड़ियों से खेल रहा था, वे अचानक आपस में जुड़ गईं। वह कूद पड़ा और पिंजरे के दूसरे किनारे पर जाकर उन जुड़ी हुई छड़ियों के द्वारा केले को खींचने का यत्न किया। जब वे छड़ियाँ अलग होकर गिर पड़ीं, उसने उनको फिर उसी तरह जोड़ दिया और जुड़ी हुई छड़ों के द्वारा केले को भीतर खींच लिया। इससे यह पता चलता है कि कुछ पशु 'सूझ' के द्वारा कुछ सीमा तक सीख सकते हैं। किन्तु यहाँ 'सूझ' का अर्थ केवल इतना है कि पशु दो वस्तुओं के लाभदायक सम्बन्ध का निरीक्षण कर लेता है, जैसा कि उस वनमानुष ने किया। इसी प्रकार मानव शिशुओं पर भी दो छड़ियों वाले प्रयोग किये गये हैं और देखा गया है कि शिशु भी प्रायः निरीक्षण के द्वारा ही सीख सकते हैं। उनकी 'सूझ' भी पशुओं की 'सूझ' की भाँति सीमित होती है। दूसरे शब्दों में, पशुओं और मानव शिशुओं के सीखने में 'प्रयास और भूल की विधि' की प्रधानता है। इसका कारण केवल यही है कि प्रौढ़ मनुष्य अपने विस्तृत अनुभव तथा परिपक्व बुद्धि के कारण, 'सूझ' द्वारा सीखने में पशुओं और शिशुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

सीखने के नियम—'सीखने' पर प्रयोग करने के पश्चात् मनोवैज्ञानिक कुछ सामान्य नियमों पर पहुँचे हैं। शिक्षक के लिए इन नियमों का जानना नितान्त आवश्यक है, अतः संक्षेप में इन नियमों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

अभ्यास का नियम (The law of use)—अभ्यास के द्वारा सीखी हुई क्रिया दृढ़ और स्थिर होती है। अन्य सब प्रकार की समानता होते हुए, चलने, तैरने इत्यादि जैसी क्रियाओं में से, जिस क्रिया का अधिक अभ्यास किया जाय, वह अधिक निश्चित् तथा अधिक सुगम हो जाती है। उसका कारण यह होता है कि बार-बार के अभ्यास से विषय (Stimulus) और प्रतिक्रिया (Response) का सम्बन्ध दृढ़ और विस्तृत हो जाता है। ऊपर दिये गये 'स्टैन्टर' कीटाणु के उदाहरण में हम यह देखते हैं कि बार-बार प्रतिकूल वस्तु का अनुभव करने के द्वारा वह कीटाणु उस स्थान को छोड़ देना सीख जाता है। इसी प्रकार बिल्ली भी बार-बार प्रयास तथा भूल के द्वारा गोरखधन्धे से बाहर निकलने के लिए कुंजी घुमाकर दरवाजा खोलना सीख जाती है। अभ्यास के नियम के साथ-साथ एक और नियम को भी जोड़ा जाता है, जिसको हम पुनरावृत्ति अथवा दोहराने का नियम (The law of frequency) कह सकते हैं। इस नियम का अभिप्राय यह है कि क्रिया को सीखने के पश्चात् भी, अभ्यास जितना अधिक बार दोहराया जायगा

उतना ही विषय और प्रतिक्रिया का सम्बन्ध अधिक दृढ़ होगा।

अनभ्यास का नियम (The law of disuse)—जहाँ अभ्यास करने के साथ एक क्रिया को ग्रहण किया जाता है, वहाँ अनभ्यास से उसी क्रिया को भूला भी जा सकता है। अभ्यास के द्वारा परिस्थिति और प्रतिक्रिया का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है, किन्तु अनभ्यास के द्वारा वही सम्बन्ध निर्बल पड़ जाता है। उदाहरणस्वरूप, निरर्थक अथवा अर्थहीन लघु शब्द शीघ्रतया भूल जाते हैं, जब कि अर्थवाले लम्बे-लम्बे शब्द तथा विषय विस्मृत नहीं होते। साइकिल चलाना, टाइप करना इत्यादि सीख लेने के बाद फिर जल्दी नहीं भूलते हैं, किन्तु यदि उनका बाद में काफ़ी समय तक व्यवहार या अभ्यास न किया जाय, तो धीरे-धीरे वह भूल जाते हैं।

नवीनता का नियम (The law of recency)—जो क्रिया अभी-अभी सीखी गई हो, वह साधारणतया नहीं भूलती है, किन्तु काफ़ी समय व्यतीत होने के पश्चात्, विशेषकर जिस क्रिया का अभ्यास न किया जा रहा हो, वह समय के व्यवधान के कारण भूल जाती है। उसका कारण यह होता है कि दिन-प्रतिदिन वह क्रिया निर्बल होती जाती है। अतः स्पष्ट है कि अभ्यास जितना नवीन अर्थात् ताज़ा होगा, उतना ही परिस्थिति तथा प्रतिक्रिया का सम्बन्ध सुदृढ़ और विशद होगा।

तत्परता का नियम (The law of readiness)—सीखने वाले व्यक्ति को हर प्रकार से तत्पर रहना चाहिए। इस तत्परता का अर्थ न केवल मानसिक तत्परता है, अपितु शारीरिक तत्परता भी है। यदि सीखने वाले व्यक्ति का शरीर थका हुआ है और वह क्रिया के लिए तत्पर नहीं है, तो सीखी हुई प्रतिक्रिया शीघ्रता से उपस्थित नहीं होगी।

परिणाम का नियम (The law of effect)—जिस क्रिया को करने से सफलता मिलती है, उसमें अनुभवकर्त्ता को संतोष तथा सुख अनुभव होते हैं, और इसीलिए वह उस क्रिया को बार-बार करता है। इसके विपरीत जिस क्रिया का परिणाम असफलता हो, वह अनुभवकर्त्ता के लिए दुःखदायक होती है और विलयन के कारण लुप्त हो जाती है। अतः सन्तोष और सुख एक प्रतिक्रिया के सीखने में सहायता देते हैं। पशुओं पर प्रयोग करके यह देखा गया है कि यदि सीखते समय किसी असफल प्रतिक्रिया को करते हुए पशु को बिजली का धक्का लगता हो, और सफल परिणाम वाली क्रिया को करते हुए उस पशु की भूख को सन्तुष्ट किया जाता हो, तो वह सफल प्रतिक्रिया को ग्रहण करने में बहुत थोड़ा समय लगाता है। यही परिणाम का नियम बालकों के 'सीखने' में भी लागू होता है। अतः पाठशालाओं में पारितोषिक का देना, शिशुओं के सफलता प्राप्त करने पर उनकी प्रशंसा करना, उनके सीखने में बहुत सहायक सिद्ध होता है। छोटे शिशुओं को यदि पाठशाला में खाने को मिठाई दी जाती हो और अध्यापक उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते हों, तो वे थोड़े समय में ही बहुत सीख जायँगे। किन्तु

यदि अध्यापक क्रोधी हो और हर समय बिना कारण छात्रों को दण्ड देता रहता हो, तो उनके सीखने में बाधा पड़ेगी। कुछ सीमा तक सम्भव है दण्ड देना भी उपयोगी होता हो, किन्तु शिक्षक को यह न भूल जाना चाहिए कि केवल मात्र दण्ड ही सिखाने की विधि नहीं है।

सीखने की वक्र रेखा

मनोविज्ञान के पण्डितों ने सीखने के मनोविज्ञान में बहुत निरीक्षण तथा प्रयोग किये हैं और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि टाइप तथा तार भेजने जैसे यन्त्रवत् सीखने में, सीखने वाला व्यक्ति एक ही गति से उन्नति नहीं करता। इन दो प्रकार के सीखने पर जो प्रयोग किये गये हैं उनसे सीखने के मनोविज्ञान पर प्रकाश पड़ता है। अतः भिन्न-भिन्न परिणाम पर मनोवैज्ञानिक पहुँचे हैं, उनका यहाँ वर्णन करना अत्यन्त आवश्यक है। सीखने के प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि तार भेजने (Telegraphy) और टाइप करने की यन्त्रवत् कलाओं में पहले तो उन्नति शीघ्रता से होती है, किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् वह बिलकुल रुक जाती है। अब यदि सीखने वाला व्यक्ति निरन्तर प्रयत्न करता रहे, तो कुछ दिनों के पश्चात् सीखने में फिर उन्नति आरम्भ होती है और उस समय तक यह उन्नति होती जाती है, जब तक कि उन्नति की शारीरिक परिसीमा न पहुँच जाय। तार भेजने और लेने के विषय में, तथा उसमें उन्नति के बारे में बुडवर्थ ने जो परीक्षण किये उनकी निम्न व्याख्या की है—

"तार भेजने की विद्या सीखने वाले एक छात्र की प्रति सप्ताह, यह देखने के लिए परीक्षा की गई कि वह कितनी शीघ्रतापूर्वक तार का सन्देश भेज सकता है, तथा कितनी शीघ्रतापूर्वक, तारयन्त्र के शब्द को सुनकर सन्देश ग्रहण कर सकता है। एक मिनट में जितने अक्षरों की संख्या तार पर भेजी जाती थी अथवा ली जाती थी, वह निपुणता का माप-दण्ड (Measure) समझा गया। कुछ पहले सप्ताहों में प्रगति तीव्र रही; उसके पश्चात् धीरे-धीरे मन्द होती

चित्र १२
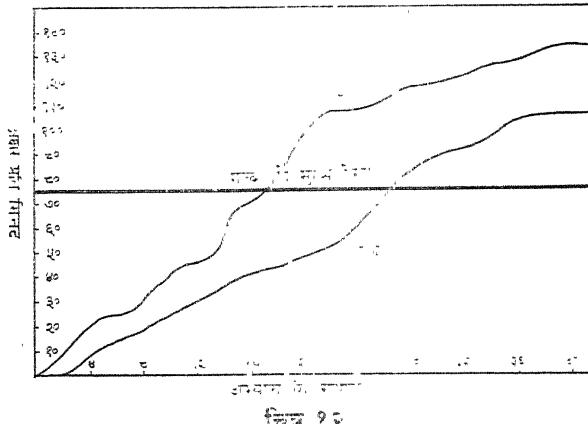
गई, जिसके आधार पर विशेष सीखने की वक्र रेखा अथवा अभ्यास वक्र रेखा बन गई।" ऊपर दिया हुआ चित्र ऐसी वक्र रेखा की व्याख्या करता है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, उपरोक्त सीखने की वक्र रेखा यह प्रकट करती है कि प्रारम्भ में सीखने में प्रगति तेजी से होती है, परन्तु मध्य में कुछ सप्ताहों के लिए प्रगति रुक जाती है। जिस समय एक हद तक उन्नति करने के बाद प्रगति रुक जाती है, सीखने वाला व्यक्ति निराश हो जाता है, उस समय की अवधि को मनोविज्ञान में सीखने का पठार या उच्चसमभूमि (Plateau of learning) कहते हैं। जब सीखने वाला व्यक्ति इस अवधि में से गुजरता है, तो उसको प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि वह सीखने में और आगे नहीं बढ़ सकता है। इसका कारण प्रायः रुचि तथा अवधान का अभाव भी होता है। सम्भवतया एक ही सीखने की विधि पर चलते हुए सीखने वाला व्यक्ति जहाँ थकान अनुभव करता है वहाँ उसके कार्य में नवीनता न होने के कारण, रुचि और अवधान का अभाव भी आगे प्रगति करने में बाधा उपस्थित करते हों। किन्तु इस अवधि में सीखने वाले व्यक्ति को निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि सीखने की विधि में परिवर्तन कर लेने से, नवीनता, रुचि तथा अवधान के आ जाने से फिर नये सिरे से प्रगति आरम्भ हो जाती है। यदि सीखने वाला व्यक्ति अब से पूर्व एक-एक अक्षर करके तार भेजता अथवा लेता था तो अब परिश्रम से वह एक-एक अक्षर के स्थान पर एक-एक शब्द करके तार भेजना व लेना आरम्भ कर देता है। दूसरे शब्दों में, पहले उसके लिए अक्षर इकाई होता है, परन्तु बाद में शब्द इकाई बन जाता है। उसकी प्रगति यहाँ ही समाप्त नहीं हो जाती है अपितु आगे चलकर वह न केवल शब्द को इकाई के रूप में तारयन्त्र पर भेजता तथा ग्रहण करता है, अपितु वह छोटे-छोटे वाक्यों को भी इकाई के रूप में यन्त्र के द्वारा आसानी से भेजने तथा प्राप्त करने लगता है। अतः उच्चसमभूमि (पठार) का सीखने पर अच्छा और अभीष्ट प्रभाव पड़ता है, क्योंकि सीखने वाला व्यक्ति उच्चसमभूमि के कारण आराम पाकर थकावट दूर कर नई रुचि और नये उत्साह से कार्य करने लगता है। इस उच्चसमभूमि का एक दूसरा हेतु या लाभ भी है। कई मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि उच्चसमभूमि की अवधि का होना अति आवश्यक है, क्योंकि इस अवधि में, सीखने वाला व्यक्ति जो अनुभव पहले ग्रहण कर चुका होता है वह अनुभव स्थिर हो जाता है, तथा सीखने वाला (Learner) आगे उन्नति करने के लिए तत्पर हो जाता है।

सीखने की वक्र रेखा का शिक्षा में महत्त्व—इस रेखा का शिक्षा में बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इसके अंकन से सीखने की प्रगति के सम्बन्ध में यह पता लगता है कि सीखने की प्रक्रिया क्रमपूर्वक तथा धीरे-धीरे उन्नति करती है; विशेषकर जब छात्र सीखते समय सीखने की उच्चसमभूमि में प्रवेश करते हैं, तो वे आगे प्रगति करने के सम्बन्ध में हताश हो जाते हैं। यदि इस अवधि में उनमें नवीन उत्साह और रुचि न भर दी जाय, तो वे सीखने में और आगे उन्नति नहीं कर सकते हैं। अध्यापक को चाहिए कि वह ऐसे समय में बालकों की उत्सुकता, आत्मप्रकाश एवं लड़ने की मूल-प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे,

ताकि वे प्रोत्साहित होकर और आगे बढ़ने की चेष्टा करें। ऐसा करने से उनमें सीखने की इच्छा बनी रहेगी और इस इच्छा का बना रहना सीखने वाले के लिए बहुत ही आवश्यक है। जब तक कि बालक सीखने का स्वयं संकल्प नहीं करता, वह अनुभव को ग्रहण करने के लिए तत्पर नहीं हो सकता और जब तक वह अनुभव को ग्रहण करने के लिए तत्पर न हो, तब तक संसार की कोई भी शक्ति उसको कुछ भी नहीं सिखा सकती है। अनेक परीक्षणों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि जब तक कोई अनुभव बालकों के सामने, सीखने के ही दृष्टिकोण से उपस्थित न किया जाय, तब तक वे उसे ग्रहण करने के लिए तत्पर नहीं होते हैं; परिणामतः वे उसे सीख नहीं सकते। उदाहरणार्थ, यदि किसी श्रेणी के बालकों को कुछ शब्द बोलकर लिखा दिये जायँ और उसके पश्चात् उनको कहा जाय कि वे उन लिखित शब्दों के देखे बिना ही क्रमशः उनका उच्चारण करें, तो बालकों की अधिक संख्या वह सब शब्द भूली हुई पाई जायगी, और मुश्किल से ही एक-दो बालक ऐसे मिलेंगे जिन्होंने उन शब्दों में से कुछ को याद रखा होगा, किन्तु यदि इसी तरह के प्रयोग करते समय बालकों को स्पष्ट रूप से पहले यह बतला दिया जाय कि जो शब्द वे लिख रहे हैं वही शब्द उनको उसी क्रम में मौखिक सुनाने पड़ेंगे, तो उनकी अधिक संख्या ऐसा करने में समर्थ तथा सफल होगी।

इसके अतिरिक्त, सीखने की उच्चसमभूमि की अवधि में, छात्रों के उत्साह को बनाये रखने के लिए, यह भी बड़ा आवश्यक है कि उनके सीखने के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो; अर्थात् सीखने की उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण का होना अत्यावश्यक है। यदि पाठशाला ऐसे वातावरण में हो, कि जहाँ पर सड़क पर चलने वाली गाड़ियों अथवा लोगों के यातायात का शोर आता हो अथवा अन्य प्रकार की कोई और अन्य रुकावटें हों, तो छात्रों के सीखने में अवश्य बाधा पड़ेगी। यही कारण था कि प्राचीन काल में शिक्षण के केन्द्र, गुरुकुल और ऋषिकुल, एकान्त तथा शान्त वातावरणों में स्थापित किये जाते थे।

क्रिया के द्वारा सीखना (Learning by doing)—सीखने की समस्थली में छात्र के उत्साह को बनाये रखने के लिए, तथा भविष्य में सीखने की प्रगति के मार्ग पर चलाने के लिए अध्यापक को चाहिए कि वह छात्र को किसी काम को स्वयं ही करके सीखने का अवसर दे। यदि प्रारम्भ से ही बालक को दूसरों पर निर्भर रहने की आदत पड़ जायगी, तो वह सीखने में कभी अभीष्ट उन्नति नहीं कर सकेगा। इसका कारण यह है कि कोई बालक जिस समस्या को स्वयं सुलझाता है, वह उसके हरएक पहलू को जान लेता है और उसके सुलझाने की कला में निपुण हो जाता है। परिणामतः भविष्य में जब कभी कोई नई समस्या भी खड़ी हो जाती है, तो वह बिना किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता के स्वयं ही उसको सुलझा लेता है। इसके साथ-साथ जब स्वयं-क्रिया के द्वारा

सीखने में बालक सफलता प्राप्त करता है, तो उसमें पर्याप्त आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है और उस आत्मविश्वास के कारण उसका संकल्प दृढ़ हो जाता है, जिसके द्वारा वह शिक्षण की उच्चतम भूमि में हतोत्साह नहीं होता है। अतः अध्यापकों को चाहिए कि वे बालकों में किसी काम को करके सीखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर उनमें स्वावलम्बन की आदत का निर्माण करें। समय समय पर उनको भिन्न-भिन्न प्रकार के नक्शे तथा चार्ट आदि बनाने का कार्य विशेष रूप से सौंपा करें। उनको बारी-बारी से श्यामपट पर आकर श्रेणी के अन्य बालकों को प्रश्नों का हल निकालने के लिए अवसर दें। विशेषकर गणित पढ़ाते समय, प्रत्येक छात्र को स्वयं ही प्रश्नों को हल करके उत्तर निकालने की आदत डलवाना नितान्त आवश्यक है।

थकान (Fatigue)

सीखने के सम्बन्ध में इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि सीखने वाला कहीं प्रतिकूल वातावरण के कारण निराश होकर बीच में ही 'सीखना' न छोड़ बैठे। प्राणीमात्र निरन्तर कार्य करने से स्वभावतः थकान का अनुभव करते हैं। थकावट की अवस्था में, सीखने के प्रयास को कदापि चालू नहीं रखना चाहिए। यदि थकावट की अवस्था में बालकों को शिक्षा दी जायगी, तो वे कदापि उससे लाभ नहीं उठा सकेंगे। यही कारण है कि मनोविज्ञान के पण्डित विद्यालय में पढ़ने के घण्टों को आवश्यकता से अधिक लम्बा रखने की अनुमति नहीं देते हैं। उनके मतानुसार छोटे बालकों के लिए २५ से ३० मिनट की घण्टी पर्याप्त होती है, और बड़े बालकों के पढ़ने की घण्टी की अवधि भी ४० मिनट से अधिक नहीं होनी चाहिए। दो-चार घण्टियों के पश्चात्, छात्रों को विश्राम के लिए अवकाश देना बड़ा लाभदायक रहता है। इसके अतिरिक्त अध्यापक को प्रयत्न करना चाहिए कि छात्र मानसिक थकान का अनुभव न करें। अतः थकान को दूर करने के लिए उसके कारणों का जानना आवश्यक है।

थकान के कारण (Causes of fatigue)—मुख्यतया थकान के दो कारण हैं—(१) मानसिक (Mental) और (२) शारीरिक (Physiological)। थकान का मानसिक कारण मुख्यतया रुचि तथा अवधान का अभाव है। निरन्तर एक ही पाठ को पढ़ते हुए, रुचि का अभाव होना स्वाभाविक होता है। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह लगातार एक ही रीति से, और केवल एक ही विषय को न पढ़ाये। यदि बालकों में रुचि और अवधान के अभाव का जरा भी आभास पाये, तो उसे चाहिए कि वह विषय को विशेष रूप से रुचिकर बनाये अथवा सिखाने की विधि में परिवर्तन करे अथवा अपने भाषण में नवीनता तथा आकर्षण उत्पन्न करे। जहाँ तक शारीरिक कारणों का सम्बन्ध है, उन्हें दूर करने के लिए विश्राम तथा अवकाश का होना परम आवश्यक है। शरीर में थकावट उस समय होती है जब कि शक्ति देने वाले रस अर्थात् रासायनिक पदार्थ हमारे

शरीर में कम हो जाते हैं तथा थकान को उत्पन्न करने वाले विष शरीर में उपस्थित हो जाते हैं। निद्रा से शरीर को विश्राम मिलता है और विषैले पदार्थ स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त पुष्टि देने वाले विविध भोजन भी हमारे शरीर में शक्तिदायक रसों को उत्पन्न करते हैं। शुद्ध वायु, जिसमें कि आक्सीजन प्रचुर परिमाण में होती है, विषैले पदार्थों को नष्ट करती है। इसलिए खुले मैदानों में भ्रमण करना और दीर्घश्वास के व्यायाम करना थकावट निवारण करने के लिए अत्यन्त लाभदायक हैं। इसके अतिरिक्त यदि परिश्रम करने की आदत पड़ गई हो तो थकान बहुत देर के बाद अनुभव की जाती है। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह बालकों को जहाँ तक सम्भव हो परिश्रम करने की आदत डालें; उनको अच्छा पुष्टिकर भोजन खाने का, शुद्ध वायु में निवास और दीर्घश्वास लेने का उपदेश दें तथा स्वयं भी उनकी रुचि तथा अवधान को बनाये रखने का प्रयत्न तथा ध्यान रखें।

अभ्यास

१. मनोविज्ञान में 'सीखने' का क्या अभिप्राय है? उदाहरणसहित व्याख्या करो।

२. 'सीखने' की प्रक्रिया में गोरखधन्धी पिंजरे के प्रयोग की व्याख्या करो। 'प्रयास और भूल के द्वारा सीखने की विधि' पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि इस विधि का क्या महत्त्व है।

३. 'अनुकरण के द्वारा सीखने की विधि' पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि पशु कहाँ तक इस विधि का प्रयोग कर सकते हैं।

४. 'सूझ (Insight) द्वारा सीखना' केवल मनुष्य तक ही सीमित है, इस मत की आलोचना करो।

५. मनोवैज्ञानिकों ने 'सीखने' के कौन-कौन से नियम निर्धारित किये हैं? विस्तार-पूर्वक लिखो।

६. 'सीखने' में प्रगति किस प्रकार से होती है, और उस प्रगति में क्या विशेषता है? उदाहरणसहित लिखो।

७. 'सीखने' की 'वक्र रेखा' का क्या अर्थ है, और उसका शिक्षा मनोविज्ञान में क्या महत्त्व है?

८. 'थकान' का क्या अर्थ है? बालकों को थकान से निवृत्ति देने के लिए क्या-क्या उपाय किये जा सकते हैं?

अठारहवाँ अध्याय

मनोविश्लेषण (Psycho-analysis)

मनोविज्ञान के संसार में खोज के दृष्टिकोण से जितना ठोस कार्य मनोविश्लेषण के क्षेत्र में हुआ है, उतना अन्य किसी क्षेत्र में शायद ही हुआ हो। प्राचीन काल में मनोविज्ञान को केवल सचेतन मानसिक क्रिया तक ही सीमित रखा जाता था। आधुनिक मनोविज्ञान में व्यवहारवादी मनोविज्ञान (Behaviour psychology) के अनुयायियों ने तो 'चेतना' अर्थात् 'ज्ञात चेतना' को मानसशास्त्र का विषय तक मानने से इन्कार कर दिया है। अनेक परीक्षणों के द्वारा मनोविश्लेषण ने न केवल यह सिद्ध किया है कि मानसिक शक्ति शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण करती हैं, बल्कि यह भी प्रमाणित कर दिया है कि मानसिक शक्ति अथाह और अनन्त है। केवल 'चेतना' अर्थात् 'ज्ञात चेतना' ही हमारी मानसिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं है, अपितु 'चेतना' के साथ-साथ हमारे मन की 'अर्द्ध (अधि)-चेतना' (Sub-consciousness) तथा 'अचेतना' अर्थात् 'अज्ञात चेतना' (Unconsciousness) भी गुप्त रूप में हमारे मानसिक जीवन का संचालन करती है। हमारे जीवन की अधिकतर क्रियाएँ 'अचेतना' अर्थात् 'अज्ञात चेतना' की होती हैं। यदि 'चेतना' अर्थात् 'ज्ञात चेतना' द्वारा की हुई क्रियाओं में और 'अचेतना' अर्थात् 'अज्ञात चेतना' द्वारा की हुई क्रियाओं में जो भेद है उसे तुलनात्मक दृष्टि से देखें, तो 'चेतना' को केवल समुद्र की ऊपरी सतह कहा जा सकता है और उसके मुकाबले 'अचेतना' को अथाह समुद्र की गहराई की उपमा दी जा सकती है। इस तुलनात्मक दृष्टि से स्पष्ट है कि 'चेतना' अर्थात् 'ज्ञात चेतना' हमारे मनोजीवन का किञ्चितमात्र भाग ही है। यदि केवल 'चेतना' को ही मनोविज्ञान का विषय मान लिया जाय, तो स्मृति (Memory), संचय (Mneme) और स्वप्न जैसी क्रियाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती है। यदि केवल 'चेतना' ही हमारे मानसिक जीवन की एकमात्र सत्ता होती, तो हम अतीत का स्मरण कभी न कर सकते और न सोते समय स्वप्न जैसी 'अर्द्ध-चेतना' ('अधिचेतना') का ही कभी अनुभव करने में समर्थ होते। वास्तव में 'ज्ञात चेतना' (Conscious self) के भीतर गहराई में एक और 'चेतना' है जो हमारे ज्ञान में नहीं आती व छिपी हुई होती है, जिसे हम 'अज्ञात चेतना' या 'अचेतना' कह सकते हैं।

'अचेतना' अर्थात् 'अज्ञात चेतना' की ठीक व्याख्या करने के लिए हमें इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। 'अचेतना' की छिपी हुई शक्ति की खोज का श्रेय जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर फ्रायड (Dr. Freud) को प्राप्त है। उन्होंने

बहुत प्रयोगों के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि अचेतना शक्ति गुप्त रूप से हमारी मानसिक क्रियाओं का संचालन करती रहती है तथा हमारे प्रतिदिन के व्यवहारों, शिष्टाचारों तथा मानसिक विचारों का आधार है। 'अचेतना' का निर्माण शैशवावस्था से हमारी उन इच्छाओं के द्वारा होता है, जिन्हें हमारा समाज, हमारे माता-पिता तथा हमारे आदर्श इत्यादि के भय या बन्धनों द्वारा दबा या रोक दिया जाता है। देखने को तो ये इच्छाएँ दब जाती हैं, किन्तु वास्तव में वे हमारी विवेक-शक्ति रूपी 'प्रतिरोधक' (Censor) के भय से चेतना के उपरि क्षेत्र में नहीं आती हैं और निर्वासित विद्रोहियों की भाँति भूगर्भस्थ (Underground) होकर सर्वदा 'चेतना' की राजसत्ता के विरुद्ध बगावत करने की योजनाएँ बनाती रहती हैं। यदि मन की उपमा एक मकान के दो कमरों से दी जाय, तो चेतना की व्याख्या और भी स्पष्ट और सरल हो जायगी। मान लो कि एक मकान के दो कमरों में से एक बहुत ही सुन्दर सजा हुआ कमरा है; उसमें बहुत सुन्दर-सुन्दर चित्र लगे हैं, आराम कुर्सियाँ हैं, सोफ़े हैं, रेडियो है, पलँग हैं, अर्थात् आधुनिक जीवन की सब सुविधाएँ तथा साज-सज्जा वहाँ हैं। कल्पना कीजिये उस कमरे में रहने वाले व्यक्ति, सुशिक्षित व सभ्य हैं तथा शिष्टाचार का पालन करने वाले हैं, किन्तु उसी मकान के दूसरे कमरे में बिलकुल अंधेरा है और जीवन की कोई भी सुविधा नहीं है। इस दूसरे कमरे में रहने वाले व्यक्ति असभ्य हैं, अशिक्षित हैं और शिष्टाचार को नहीं जानते हैं, और उनको उस अंधेरे कमरे में ही बन्द रहना पड़ता है। उस अंधेरे कमरे का दरवाजा सजे हुए पहले कमरे में खुलता है, किन्तु उस दरवाज़े पर एक द्वारपाल बैठा हुआ है। जब भी कोई अंधेरे कमरे वाला व्यक्ति वहाँ से सजे हुए कमरे में आने का यत्न करता है, तो वह द्वारपाल झट से उसे अंधेरे कमरे में ही धकेल देता है और उसे प्रकाश वाले तथा सजे हुए कमरे में नहीं घुसने देता है। यदि सजे हुए कमरे में रहने वाला कोई व्यक्ति भी शिष्टाचार का पालन नहीं करता है, तो वह भी उसी अंधेरे कमरे में धकेल दिया जाता है। किन्तु जब कभी उस सजे हुए कमरे के व्यक्ति कहीं बाहर चले जाते हैं, और कमरा उनसे खाली हो जाता है और द्वारपाल को नींद आ जाती है, तो उस समय अंधेरे कमरे में रहने वाले व्यक्ति, मौका पाकर सजे हुए कमरे में घुस आते हैं; किन्तु द्वारपाल के भय से वे अब भी अपने मुँह को छुपाकर कमरे में घुसते हैं और अन्दर प्रविष्ट होकर सोफ़े पर नाचते हैं, कूदते हैं, रेडियो इत्यादि को उलटा सीधा चलाते हैं; और जो मन में आता है, करते हैं। इस उदाहरण में सजे हुए कमरे में रहने वाले व्यक्ति तो हमारी चेतन इच्छाएँ हैं और वह कमरा चेतना का क्षेत्र है, अँधेरा कमरा अचेतना का क्षेत्र है, और उसमें रहने वाले व्यक्ति अचेतन इच्छाएँ हैं और हमारी विवेक शक्ति द्वारपाल है। जब हमारी 'चेतना' में कोई ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है, जो हमारे सामाजिक आदर्शों और शिष्टाचार के विरुद्ध होती है, तो उसको अचेतना वाले कमरे में धकेल दिया जाता है। किन्तु वहाँ

अकेली जाकर भी वह, फिर 'चेतना' वाले कमरे में आने के लिए निरन्तर संघर्ष करती रहती है। विशेषकर जब हम नींद में होते हैं और हमारी विवेक-शक्ति भी सो जाती है, तो यही अचेतन इच्छाएँ, अनेक रूप धारण करके, हमारे स्वप्नों में प्रकट होती हैं। इस प्रकार डाक्टर फ्रायड ने अचेतना का स्वप्न से सम्बन्ध बताया है। उन्होंने तो मनोविश्लेषण के द्वारा यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि न केवल हमारे स्वप्न, अपितु हमारी समस्त मानसिक व्याधियाँ, और हमारे शिष्टाचार-व्यवहार आदि की त्रुटियाँ प्रभृति हमारी 'अचेतन इच्छाओं' अर्थात् दबी हुई इच्छाओं के कारण होती हैं।

डाक्टर फ्रॉयड तथा मनोविश्लेषण के अन्य विद्वान् 'अचेतना' के तीन मुख्य अंग मानते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्तिगत अचेतना (Personal unconscious)।

२. सामान्य अचेतना (Impersonal unconscious)।

३. प्रतिरोधक अर्थात् विवेक (Censor)।

व्यक्तिगत अचेतना—हमारी 'व्यक्तिगत अचेतना', हमारी इच्छाओं के दमन या प्रतिरोध के आधार पर बनती है। प्रत्येक व्यक्ति का एक-दूसरे से भिन्न वातावरण में, तथा भिन्न परिस्थितियों में पालन-पोषण होता है। जब किसी विशेष परिस्थिति में, उसकी किसी विशेष इच्छा का दमन या प्रतिरोध हो जाता है, तो वह इच्छा दबकर भी उसके अचेतन मन में उभरने के लिए सर्वथा संघर्ष करती रहती है, तथा समय-समय पर किसी 'भावनाग्रन्थि' (Complex) के रूप में अथवा किसी असामान्य आदत के रूप में प्रकट होती रहती है। मनोविश्लेषण यह मानता है कि दबी हुई इच्छा, अथवा अचेतन मनोवृत्ति को 'चेतना' के स्तर पर लाने से 'भावनाग्रन्थि' का प्रतिकार हो सकता है। 'व्यक्तिगत अचेतना' के द्वारा, बहुत-सी भावनाग्रन्थियाँ (Complexes) उत्पन्न हो जाती हैं। डाक्टर फ्रॉयड के मतानुसार, स्वप्न केवलमात्र दमन की हुई हमारी इच्छाओं के कारण होते हैं। यदि हम अपने स्वप्नों का, ध्यानपूर्वक विश्लेषण करें, तो हम उन सब विशेष दबी हुई इच्छाओं की खोज कर सकते हैं, जो कि केवल वेश बदलकर उन-उन स्वप्नों के रूप में प्रकट होती हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रतिरोधक अर्थात् विवेक-शक्ति के भय के कारण, अचेतन इच्छा स्वप्न में भी परोक्ष रूप में उपस्थित होती हैं। वह केवल संकेत (Symbol) के रूप में भी प्रकट हो सकती हैं। 'अचेतना' के इस प्रकार, छुपकर प्रकट होने के ढंग को 'मनोविश्लेषण' में 'संकेतवाद' (Symbolism) कहा गया है। मनोविश्लेषण की भाषा में कहें, तो पानी में से गुजरने के स्वप्न, आकाश में उड़ने के स्वप्न अथवा सीढ़ी पर चढ़ने के स्वप्न हमारी 'अचेतन कामप्रवृत्ति' के चिह्न ही हैं। इसी प्रकार हमारी दबी हुई विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ अनेक युक्तियों से नाना रूपों में प्रकट होती रहती हैं। यदि कोई व्यक्ति, विशेषरूप से साधारण बातों को भूल

जाता है, तो उसका 'मनोविश्लेषण' का अध्ययन करने के पश्चात् उसकी इस 'भावनाग्रन्थि' का कारण भी खोज निकाला जा सकता है। इस प्रकार की विशेष 'भावनाग्रन्थियाँ', 'व्यक्तिगत अचेतना' के कारण होती हैं।

सामान्य अचेतना—हमारी 'सामान्य अचेतना' में वे प्रेरणाएं होती हैं, जो सब मनुष्यों में समान होती हैं। हमारी मूलप्रवृत्तियाँ तथा संचित विचार, 'सामान्य अचेतना' के उदाहरण हैं। इस प्रकार की मनोवृत्तियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष रूप में रहती हुई हमारे व्यवहार का कारण होती हैं अथवा हमें क्रिया के लिए उत्तेजना देती हैं। अतः इनको भी अचेतन प्रवृत्तियाँ माना जाता है। हमारी इन प्रवृत्तियों का दमन या प्रतिरोध भी शैशवावस्था में होता रहता है। यही कारण है कि कई बार इस प्रकार दमन की हुई इच्छाएँ स्वप्नों में प्रकट होती हैं अथवा जब हम लापरवाही से कोई कार्य करते हैं, उस समय भी प्रकट होती हैं। उदाहरणस्वरूप, किसी से बातचीत करते समय, अपने सिर को खुजलाना अथवा कोट के बटन को घुमाना इत्यादि स्वच्छन्द तथा सहज क्रियाएँ, दमन की हुई इच्छाओं के परिणामस्वरूप ही की जाती हैं; जो हमारी सामान्य अचेतना में रहती हैं।

विवेक अथवा प्रतिरोधक (Censor)—दमन की हुई इच्छाओं का मुख्य कारण, मनोविश्लेषण में विवेक को बतलाया गया है। दूसरे शब्दों में हमारी नैतिक धारणा, जो कि हमारे व्यक्तित्व में, सामाजिक वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न होती है, हमारी अनुचित इच्छाओं का दमन करती है। मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण से, यदि मनुष्य इस विवेक या प्रतिरोधक शक्ति से स्वतन्त्र होकर व्यवहार करे, तो उसके व्यवहार का कुछ और ही रूप होगा। मनुष्य वास्तव में दमन की गई अपनी इच्छाओं की तृप्ति करना चाहता है, किन्तु उसकी नैतिक धारणा, उसको ऐसा करने से रोकती है। उसकी विवेक-शक्ति उसकी अनुचित इच्छाओं का दमन एवं प्रतिरोध करती है। उनको अचेतना के क्षेत्र में निर्वासित देशद्रोहियों की भाँति धकेल देती है, किन्तु ये विद्रोही इच्छाएँ, विवेक (=प्रतिरोधक) तथा चेतना की राजसत्ता को उखाड़ फेंकने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती हैं। स्वप्न की अवस्था में तो विवेक या प्रतिरोधक विश्राम कर रहा होता है अतः ये अवरुद्ध 'अचेतन इच्छाएँ' नाना प्रकार के स्वप्नों में ही प्रकट होकर अपने को तृप्त करती हैं, किन्तु कई बार जब दमन की गई ये इच्छाएँ बहुत ही प्रबल होती हैं, तब ये न केवल जबर्दस्त भावनाग्रन्थियाँ उत्पन्न करती हैं, अपितु विवेक (=प्रतिरोधक) पर आक्रमण करके व्यक्ति में पागलपन (Insanity), असंगठित व्यक्तित्व (Dis-integration of personality) तथा अन्य ऐसे मानसिक रोगों को उत्पन्न कर देती है, जो कि मनोजीवन के लिए भीषणरूप से ध्वंसकारी प्रमाणित होते हैं।

दबाई हुई इच्छाओं का प्रभाव—इच्छाओं का दमन मानसिक विकास के लिए

सदा हानिकारक होता है। साधारणतया हम बालकों के व्यवहार से अनुमान लगा सकते हैं कि उनका अमुक विचित्र व्यवहार नकी किन्हीं दमन की गई इच्छाओं के कारण से है। जो बालक प्रायः अति आवश्यक काम करना भूल जाता है, उसका कारण उसकी कोई-न-कोई दबी हुई इच्छा ही होती है। इसी तरह जब कोई छात्र, किसी विशेष विषय के पढ़ने में तो रुचि नहीं दिखाता है, उससे दिल चुराता है, परन्तु उस विषय के सिवाय दूसरे सभी विषयों में प्रवीण होता है, तो उसका कारण भी अवश्य ही उसकी कोई-न-कोई दबी हुई इच्छा होती है। मनोविश्लेषण से अनभिज्ञ अध्यापक प्रायः व्यर्थ ही ऐसे छात्रों को उस विशेष विषय में परिश्रम करने पर विवश करते हैं और स्वयं भी उनके साथ माथापच्ची कर परेशान होते हैं। यदि मनोविश्लेषण के द्वारा उस छात्र की अरुचि का कारण उसकी दबी हुई इच्छा को खोज लिया जाय और उस दबी हुई इच्छा का उचित प्रतिकार कर दिया जाय, तो उस छात्र की सारी समस्या आसानी से हल हो जाये, और परिणामतः वह छात्र उस विशेष विषय में रुचि लेने लगे। श्री डम्विल (Mr. Dumville) ने इस प्रकार की भावनाग्रन्थि के सम्बन्ध में एक बड़ी दिलचस्प घटना बयान की है। यह घटना शिक्षकों के लिए बड़ी लाभदायक है, अतः हम भी उसे नीचे संक्षेप में देते हैं—

"एक नौ वर्ष की बच्ची को फ्रैन्च भाषा सीखने में बहुत कठिनाई प्रतीत होती थी, और वह बहुवचन बनाने के किसी भी नियम को स्मरण करने में समर्थ न थी। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि उस लड़की का एक छोटा भाई था, जो उससे चार वर्ष छोटा था। इस भाई के जन्म से पहले, माता-पिता के समस्त अवधान का केन्द्र बनने का सौभाग्य उस बच्ची को प्राप्त था। सम्भवतः वे उसका ध्यान विशेषरूप से इसलिए रखते थे, क्योंकि वह बालिका अति कोमल थी। उस बच्ची का वह छोटा भाई बहुत ही मनोरंजक था और अपनी बहन का पूर्णतः अनुयायी था। जो कुछ वह चाहती थी, वह वैसा ही करता था और हर प्रकार उसी के नेतृत्व मे रहता था। किन्तु उस वर्ष ग्रीष्म की ऋतु में उसके भाई का व्यवहार परिवर्तित हो गया; अब उसमें अधिक स्वतन्त्रता का आत्मप्रकाशन हुआ और अपनी बहन का अनुयायी बनने की अपेक्षा उसने अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से प्रेम तथा प्रशंसा की प्राप्ति में अपने को अपनी बहन का अप्रकट रूप से प्रतिद्वन्द्वी (Rival) बना लिया। एक और रुचिकर घटना उस समय यह हुई (जब कि फ्रैन्च भाषा सीखने की कठिनाई उत्पन्न हुई) कि अब वह शिशु अपनी स बड़ी बहन से प्रत्यक्ष रूप से भी प्रतियोगिता करने लगा। खाना खाने के लिए आये हुए अतिथियों मे वह अक्सर पूछता था कि वे उस बोतल से मदिरा पीना पसन्द करेंगे, जिस पर उसका नाम अंकित था, अथवा उस बोतल से, जिस पर कि उसकी बहन का नाम अंकित था? ऐसा प्रश्न वह उस समय करता था, जब कि वह उनके सामने रेलवे

स्टेशन के ठेले का खिलौना लेकर आता था। उसकी बहन पर इसका बहुत बुरा असर पड़ा और वह लड़की अब काफी समय तक निद्रा में पड़ी रहती और उसके संवेगों की अवस्था बुरी तरह से विकृत हो गई। मानसिक चिकित्सा शास्त्री ने जब उससे पूछा, तो उसने अपने स्वप्नों की व्याख्या देना स्वयं स्वीकार किया जो और भी सार्थक थी। उसने बयान किया कि वह निरन्तर स्वप्नों में देखा करती थी कि उसकी सब सखियाँ तथा सम्बन्धी मर गये हैं और वह अकेली जीवित बची है। इस स्थान पर मनोविश्लेषण करनेवाला, उस बच्ची के फ्रैन्च बहुबचन बनाने में असमर्थ रहने के भेद को जान गया। वह बालिका बहुवचन नहीं चाहती थी; अन्य व्यक्ति उसको रुचिकर नहीं लगते थे—मृतक थे—जिसका अर्थ शिशु के लिए यह होता है कि चले गये थे—केवल वही रह गई थी, जो एकवचन थी और उत्तम पुरुष थी।"

अनिच्छा का प्रभाव—जिस कार्य को अनिच्छा से अथवा बिना रुचि के किया जाय, वह स्मृति से शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। इस प्रकार की अपूर्ण स्मृति के सहस्रों उदाहरण पाये जाते हैं। जब भी हम किसी कार्य को, मानसिक संघर्ष के पश्चात् करते हैं, तो उस संघर्ष में पराजित की गई प्रेरणाएँ तथा इच्छाएँ कई बार, इतनी प्रबलता से, अचेतन रूप में, हमारी स्मृति पर आक्रमण करती हैं कि, हम जिस वस्तु को सर्वप्रिय समझते हैं, वह भी विस्मृत हो जाती है। महाकवि कालिदास अपने अमर नाटक 'शाकुन्तल' में इस आच्छादित स्मृति का बहुत सुन्दर उदाहरण उपस्थित करते हैं। जिस समय महाराज दुष्यन्त, महर्षि कण्व के आश्रम में सखियों के संग खेलती हुई, अनिद्य सुन्दरी शकुन्तला को, लताओं की आड़ से छिपकर देखता हुआ, उसके अद्वितीय सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है तथा उसे अपनी हृदयेश्वरी पत्नी बनाने की इच्छा करता है, उस समय उसके मन में एक महान् द्वन्द्व मचता है। वह इस दुविधा में पड़ जाता है कि कहीं शकुन्तला किसी महर्षि की तथा ब्राह्मण-कुल की कन्या न हो। इस शंका के कारण वह मन-ही-मन डरता हुआ सोचता है कि क्षत्रिय होने के नाते वह उस सुन्दरी से विवाह नहीं कर सकेगा। अन्त में काफ़ी समय तक मानसिक संघर्ष से उलझने के बाद वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि उसका अन्तःकरण उसे धोखा नहीं दे सकता है। दृढ़ निश्चय के साथ, अपनी सन्देह वाली इच्छा का दमन करके वह शकुन्तला के प्रणयपाश में बँध जाता है और उससे गान्धर्व विवाह कर लेता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका प्रेम शकुन्तला के प्रति सच्चा तथा गूढ़ होता है और इस प्रेम के नाते वह वास्तव में शकुन्तला को कभी विस्मृत नहीं करना चाहता है। कुछ दिनों बाद दुष्यन्त को अपनी राजधानी को लौटना पड़ता है, वह शकुन्तला को बचन देकर जाता है कि यथासमय रानी के रूप में उसे अपने पास बुला लेगा। राज्य में जाकर राजा शकुन्तला को भूल जाता है, तब महर्षि कण्व गर्भिणी शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेजते हैं। शकुन्तला भरे दरबार में जाकर राजा को यह चेताती है कि वह उनकी गान्धर्व विवाह से

परिणीता पत्नी है, पर राजा दुष्यन्त उसको पहचान तक भी नहीं सकते हैं। शकुन्तला के बार-बार स्मरण कराने पर भी वह अपने विवाह का तो क्या, महर्षि कण्व के आश्रम में मिलने तक की घटना का भी प्रत्याह्वान (Recall) नहीं कर सकते हैं। उनकी स्मृति सहसा आच्छादित हो जाती है। उसका कारण केवल महाराज दुष्यन्त की वही पराजित इच्छा थी, जिसने कि उनके मन में सन्देह या द्विविधा उत्पन्न की थी कि शकुन्तला क्षत्रिय वंश की नहीं है। मनोविश्लेषण के मतानुसार हमारी जिन इच्छाओं पर नियन्त्रण रखा जाता है, अथवा जिन प्रेरणाओं को समाज और नैतिकता के प्रतिकूल समझकर सर्वदा के लिए दबा दिया जाता है, वे इच्छाएँ तथा प्रेरणाएँ देखने को तो अदृश्य या अवरुद्ध हो जाती हैं और माता-पिता तथा गुरुजन यह समझ लेते हैं कि बालक अशुभ भावनाओं से निवृत्त हो गया है, किन्तु वास्तव में तथाकथित, मलिन अथवा घृणित इच्छाएँ अचेतना में रहकर नाना प्रकार के मानसिक विचारों में निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं।

बालक की भावनाग्रन्थि (Complexes)—बालक की जितनी भी अनुचित तथा शिष्टाचार के विरुद्ध मनोवृत्तियाँ हैं वे सब उसकी इच्छाओं के दमन के कारण हैं। मनोविज्ञान से अनभिज्ञ, माता-पिता, बालक के लालन-पालन में उसकी सहस्रों इच्छाओं का दमन करते रहते हैं। उसी का परिणाम यह होता है कि बालक शिक्षा के क्षेत्र में सर्वांगीण उन्नति नहीं कर सकता है। वह किसी-न-किसी विषय में अपूर्व कठिनाई का अनुभव करता है। बालक को पढ़ाने में भी, उसकी इच्छाओं को स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है। उसकी रुचि तथा प्रवृत्ति न होने पर भी उसमें नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान को ठूँसने का प्रयत्न किया जाता है; जिसका परिणाम यह होता है कि प्रौढ़ावस्था में वह किसी-न-किसी भावनाग्रन्थि (Complexes) का शिकार बन जाता है। बालकों के साथ यह अत्याचार, केवल साधारण परिवारों में ही नहीं होता है, अपितु उच्च-से उच्च परिवारों में भी उनके साथ यही अत्याचार होता है। इंग्लैण्ड के सम्राट् एडवर्ड षष्ठ प्रौढ़ावस्था में अध्ययन करने में विशेष रुचि नहीं रखते थे, उनके जीवन-चरित्र को पढ़ने से पता चलता है कि इसमें उनका अथवा उनकी बुद्धि का कोई अपराध नहीं था, और न ही उनमें उक्त भावनाग्रन्थि उच्च शिक्षा के अभाव के कारण थी। वास्तव में जब वह बहुत छोटे थे तो उनके पिता की प्रबल इच्छा थी कि राजकुमार एडवर्ड बहुत विख्यात् विद्वान् बनें। अतः उनको अनेक विषय पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया। उन्हें विद्या उपार्जित करने में इतना व्यस्त किया गया कि उनको अपनी आयु वाले अन्य बालकों से मिलने का अवसर ही नहीं मिलता था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रौढ़ावस्था में उनकी ज्ञान प्राप्त करने की प्रगति रुक गई, और उनको अध्ययन में अरुचि हो गई।

हठी बालक—इच्छाओं के दमन के कारण न केवल बालक की शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति रुक जाती है, अपितु उसके चरित्र पर भी बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

जिन शिशुओं का लालन-पालन, निरन्तर भय अथवा निराशा के वातवरण में हुआ हो, जिस बालक की आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृत्ति को धक्का लगा हो, वह बालक हठी, असत्यवादी, झगड़ालू तथा कृतघ्न हो सकता है। बालकों का हठ, विशेषकर उनकी आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृत्ति को क्षति पहुँचने से होता है। जब शिशु की घर में उपेक्षा की जाती है, जब उसके कार्य की प्रशंसा नहीं की जाती है, तब उसके मन को धक्का लगता है और वह अपने उस अपमान का बदला, माता-पिता और गुरुओं की अवज्ञा करके लेता है। इसके अतिरिक्त जब शिशु को प्यार न किया जाय, यदि माता-पिता में परस्पर प्रेम न हो और गृहस्थ के झगड़ों के कारण शिशु के प्रेम की अवज्ञा या उपेक्षा की जाय, तो उस शिशु के व्यक्तित्व का सामान्य विकास नहीं हो पाता है और न ही वह सुशिक्षित हो सकता है। शिक्षकों को चाहिए कि वे सब बालकों के साथ प्रेम का व्यवहार करें और उनके विश्वासपात्र बनें। जब एक बालक पढ़ाई में अपने आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृत्ति को तृप्त न कर सकता हो, तो उसे किसी अन्य क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने का अवसर अवश्य देना चाहिए। जब ऐसा नहीं किया जाता है तब बालक की आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृत्ति अपनी शक्ति को अन्य बालकों से लड़ने-झगड़ने में गुरुजनों की अवज्ञा करने में तथा अन्य प्रकार की उद्दण्डता करने में व्यय करती है। अतः बालक को इस प्रकार की भावनाग्रन्थियों (Complexes) से बचाने के लिए, उसके वातावरण को स्वतन्त्र बनाना चाहिए। भय की अपेक्षा प्रेम से उसके मन को जीतना चाहिए और उसकी मूल-प्रवृत्तियों को प्रतिरोध की अपेक्षा मार्गान्तरीकरण तथा शोध के द्वारा सहायक बनाना चाहिए। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बालक को अनुशासन में बिलकुल न रखा जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवेक या प्रतिरोधक (Censor) हमारी अनुचित इच्छाओं का नियन्त्रण करता है, तथा अचेतन इच्छाओं का कारण बनता है। यह विवेक ही मनुष्य का अनुपम रत्न है; विवेक ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है और उसके जीवन को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, के आदर्शों पर चलाता है। इस विवेक को भी बालक के व्यक्तित्व के विकास में, बाधक बनने की अपेक्षा, सहायक बनाया जा सकता है। अतः बालक को बहुत ही प्रेम से विवेक का उपयोग करने की प्रेरणा देना भी उसके हठ को दूर करने का उपाय बन सकता है।

अभ्यास

१. शिक्षा-मनोविज्ञान में 'मनोविश्लेषण' के विषय का क्या स्थान है, व्याख्यापूर्वक लिखो।

२. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'अचेतना' शब्द का क्या अर्थ है, उदाहरणसहित व्याख्या करो।

३. मनोविज्ञान में 'व्यक्तिगत अचेतना' किसे कहते हैं और उसका व्यक्तित्व के विकास

पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

४. 'सामान्य अचेतना' किसे कहते हैं और उसका व्यक्तित्व के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

५. दबाई गई इच्छाओं का मनोविश्लेषण से क्या सम्बन्ध है, उदाहरणसहित व्याख्या करो।

६. डॉक्टर फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सम्बन्धी प्रयोगों पर प्रकाश डालते हुए बतलाओ कि मनोविश्लेषण का 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में क्या महत्त्व है ?

७. हठी बालक की समस्या मनोविश्लेषण की सहायता से कैसे सुलझाई जा सकती है ?

८. मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण से शिक्षा के क्षेत्र में कौन-कौनसे परिवर्तन करने चाहिएँ ?

उन्नीसवाँ अध्याय

मानसिक विकास के स्तर

(Stages of Mental Development)

मानसिक विकास का स्वरूप—पिछले अध्यायों में हमने, इस बात पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है कि किन-किन उपायों का प्रयोग करके, बालकों की शिक्षा सुगम तथा लाभदायक बनाई जा सकती है। हमने बालक की मूलप्रवृत्तियों (Instincts), उसके संवेगों (Emotions), उसका कल्पना-शक्ति (Imagination), विचार-शक्ति (Thinking), उसका अवधान (Attention), उसकी रुचि (Interest); इत्यादि को उसकी शिक्षा में सहायक बनाने के उपायों का विवेचन किया है। इन सब विषयों की व्याख्या करते हुए, हमने प्रायः बालक की मनोवृत्तियों तथा प्रौढ़ों की मनोवृत्तियों के अन्तर के विषय में भी कहीं-कहीं पर आलोचना की है। इस अध्याय में हम विस्तार के साथ क्रमिक मानसिक विकास की व्याख्या करेंगे। शिक्षक के लिए बालक के मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों का जानना बहुत ही आवश्यक है। बालक के मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों के अध्ययन का विषय भी बड़ा रुचिकर है। छोटा-सा रोता हुआ वह शिशु, जिसके लिए यह संसार एक निरर्थक शब्दों, प्रकाश तथा विभिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान का समूह है; वह शिशु जो प्रारम्भ में अपने माता-पिता व सम्बन्धियों इत्यादि तक को जानता नहीं, वही नन्हा मुन्ना, क्रमशः शरीर में वृद्धि करता हुआ, पाठशाला में पढ़ता हुआ, भाई-बहनों से लड़ाई करता हुआ, ऐसा परिपक्व प्रौढ़ बनता है, कि जो न केवल माता-पिता तथा सम्बन्धियों के प्रति प्रीति रखता है, अपितु अपने राष्ट्र के प्रति भी अपना कर्तव्य-पालन करने के लिए अपने प्राणों का बलिदान देने तक को उद्यत हो जाता है। वही खिलौनों की तोड़फोड़ करने वाला आज का शिशु, भविष्य में विख्यात् इंजीनियर बनता है। पाठशाला में साधारण बालकों से भी कई बातों में पीछे रह जाने वाला मोहनदास गांधी जैसा व्यक्ति अपने राष्ट्र का अद्वितीय नेता और संसार भर का सर्वप्रिय महापुरुष बन जाता है। किन्तु मनुष्य उन्नति के शिखर पर सहसा नहीं पहुँचता है। जिस प्रकार उसका शारीरिक विकास धीरे-धीरे होता है, उसी प्रकार उसका मानसिक विकास भी उसकी आयु के अनुसार क्रमशः होता चला जाता है। उसकी शिक्षा उसके मानसिक विकास में बाधक या साधक हो सकती है, किन्तु वह उसके क्रम में सहसा कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। अतः शिक्षा को बालक के मानसिक विकास का अनुसरण करना पड़ता है। वह शिक्षा उच्च प्रकार की शिक्षा नहीं हो सकती है, जो शिशु की आयु तथा उसके मानसिक विकास के अनुसार या अनुकूल न हो। जिस प्रकार

की शिक्षा बड़ी आयु वाले बालकों को दी जाती है, उस प्रकार की शिक्षा छोटे बालकों को नहीं दी जा सकती है। जिस प्रकार का व्यवहार छोटे शिशुओं से किया जाता है, उस प्रकार का व्यवहार बड़े बालकों से नहीं किया जा सकता है। जितने उत्तरदायित्व की एक प्रौढ़ व्यक्ति से आशा की जा सकती है, उतनी किसी पाँच-छः वर्ष के बालक से नहीं की जा सकती है। अतः किसी बालक को शिक्षा देते समय हमें स्थान-स्थान पर उस बालक की आयु तथा उसके मानसिक विकास के अनुसार ही सब काम करना पड़ता है। मनुष्य का मानसिक जीवन मुख्यतया तीन अवस्थाओं में बाँटा गया है—

१. बाल्यावस्था (Childhood)।
२. प्रौढ़ावस्था (Adulthood)।
३. वृद्धावस्था (Old age)।

शिक्षा के दृष्टिकोण से हमें बाल्यावस्था को व्याख्यापूर्वक जानना चाहिए। बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने एकमत होकर, बाल्यावस्था को भी निम्नलिखित तीन अवस्थाओं में बाँटा है—

१. शैशवावस्था (Infancy)।
२. बाल्यावस्था (Childhood)।
३. किशोरावस्था (Adolescence)।

शैशवावस्था में, शिशु का शारीरिक तथा मानसिक विकास प्रारम्भिक काल में, विशेषकर पहले दो वर्षों के भीतर बड़ी तीव्र गति से होता है। नवजात शिशु, जो केवल आँखें झपकाता है, जँभाइयाँ लेता है और अपने आपको सँभाल भी नहीं सकता है, तीन महीने की अवधि में मुस्कराने लगता है और अपने झुनझुने को बजाना सीख जाता है। छः महीने की अवधि में बैठना सीख जाता है, किसी वस्तु को देखकर उसकी ओर बढ़ता है और उसे पकड़ लेता है। नौ महीने का शिशु प्रसन्नता तथा क्रोध को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है तथा अपरिचित व्यक्तियों से दूर भागता है। एक वर्ष का शिशु तो चलने के योग्य भी हो जाता है, वह आज्ञावाचक कुछ शब्दों को समझने लगता है और स्वयं भी एक-दो शब्दों का उच्चारण कर सकता है। दो वर्ष का शिशु बहुत सी क्रियाओं में निपुण हो जाता है। अब वह दौड़ता है; सीढ़ियाँ इत्यादि चढ़ सकता है; छोटे-छोटे वाक्य बोल सकता है। स्वयं कपड़े पहनने की चेष्टा करता है और स्वयं चमचे से खाना खा लेता है। केवल इतना ही नहीं, इस समय उसमें अनुकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में शिशु की रुचि प्रायः अपनी ही क्रियाओं तक सीमित रहती है। अतः उसकी खेलने की प्रवृत्ति भी अपने आप तक सीमित रहती है, अर्थात् वह अकेला ही, बिना किसी साथी के ही, खेलता है।

मूलप्रवृत्तियों का प्रभाव—शैशवावस्था में अनुभव के अभाव तथा अपरिपक्व

मानसिक विकास के कारण शिशु पूर्णतया दूसरों पर निर्भर रहता है। उसकी क्रियाएँ प्रायः मूलप्रवृत्तिपरक तथा प्रेरित ही होती हैं। अतः इस अवस्था में, माता-पिता को शिशु का पालन-पोषण बहुत सावधानी से करना चाहिए। उसकी मूल-प्रवृत्तियों (Instincts) की तृप्ति के साधन जुटाने चाहिएँ और जहाँ तक हो सके, उनका दमन अथवा विलम्बन नहीं करना चाहिए। उसके संवेगों (Emotions) की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यदि इस अवस्था में उसके संवेगों को ठेस पहुँचाई जायगी, तो उसका परिणाम शिशु के भविष्य के लिए बुरा होगा। मनोविश्लेषण के विद्वानों का विचार है कि मनुष्य के बहुत से मानसिक-विकार अर्थात् भावनाग्रन्थियाँ (Complexes) केवल उनके शैशवकाल में संवेगों (Emotions) के दब जाने के कारण ही बनती हैं। शिशु माता-पिता के प्रेम का भूखा होता है। यदि उसकी इस भूख को तृप्त न किया जाय, तो उसके मानसिक विकास को धक्का लगता है। जब तक शिशु अकेला ही माता-पिता के प्रेम का केन्द्र होता है, वह प्रसन्न रहता है। किन्तु छोटे भाई या बहन के आ जाने पर वह उसके प्रति ईर्ष्या करने लगता है। यदि उस शिशु के साथ किसी प्रकार का अन्याय किया जाय, तो उसके संवेगों का दमन होता है। इस अवस्था में परोक्ष रूप में काम-प्रवृत्ति की उपस्थिति भी मानी गई है। यह प्रवृत्ति शिशु में आत्मप्रेम (Auto-erotism) के रूप में होती है। इस प्रवृत्ति को मनोविश्लेषणवादी 'नारसिस्सिज़्म' (narcissism) कहते हैं, क्योंकि ग्रीक कथानक के अनुसार 'नारसिस्सस' नामक व्यक्ति तालाब में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर अपने पर ही बुरी तरह आसक्त हो गया था। यही कारण है कि शिशु इस अवस्था में अकेला ही नग्न होकर खेलता रहता है।

रचना—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मूलप्रवृत्ति जो इस अवस्था में उपस्थित होती है, 'रचना' है। शिशु अपने खिलौनों से खेलता हुआ, तोड़-फोड़ करता हुआ, रचना-प्रवृत्ति का प्रदर्शन करता है। परीक्षण से यह पता चला है कि शिशु दो वर्ष की अवस्था में भिन्न-भिन्न आकार के छिद्रों में उन छिद्रों के आकार के अनुसार लकड़ी के कुन्दे लगा सकता है। दूसरे शब्दों में यदि छेद चौकोर हो, तो वह उसमें चौकोर लकड़ी का कुन्दा डालता है और अगर त्रिकोण हो तो त्रिकोण लगाता है। इस अवस्था के शिशु को बहुत से अच्छे-अच्छे खिलौने खेलने के लिए देने चाहिएँ; विशेषकर इस प्रकार के खिलौने जिनके द्वारा वह छोटे-छोटे घरों, झोंपड़ियों तथा अन्य वस्तुओं की रचना कर सके।

आत्मप्रकाशन—शैशवावस्था में आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति, शिशु की क्रीड़ा में प्रकट होती है। वह स्वतन्त्रतापूर्वक घर के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ना पसन्द करता है। न केवल घर में अपितु घर के बाहर भी वह स्वयं चलना, दौड़ना, भागना बहुत पसन्द करता है। यदि उसकी इस स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा डाली जाती है, तो उसका उस पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, उसकी दबी हुई इच्छाएँ उसको जिद्दी

बना देती हैं। प्रायः माता-पिता शिशु को स्वच्छन्दतापूर्वक चलने-फिरने नहीं देते हैं। सैर करते समय यदि शिशु स्वयं सड़क पर दौड़ रहा हो तो उसे गोद में उठा लिया जाता है; यदि वह कभी उद्यान में स्वतन्त्रतापूर्वक आनन्द के साथ खेल रहा होता है, तो उसे जबर्दस्ती उठाकर घर लाया जाता है। इस तरह की छोटी-छोटी बातें, जो शिशु की स्वतन्त्र क्रीड़ा में बाधा डालती हैं, उसके विकास के लिए बहुत हानिकारक होती हैं। इन्हीं कारणों से शिशु हठी और झगड़ालू बनते हैं।

बाल्यावस्था—इस अवस्था में शिशु विचार करना आरम्भ करता है। अब उसकी जिज्ञासा अथवा उत्सुकता (Curiosity) की प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है। वह न केवल प्रत्येक नई वस्तु अथवा नई घटना को देखकर आश्चर्य प्रकट करता है, अपितु उसकी पूरी खोज करना चाहता है और उसके मूल कारण तक जानने की इच्छा करता है। इसका कारण यह है कि अब वह केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव ही नहीं करता है, अपितु उसका अनुभव प्रत्ययों तथा स्मृति के आधार पर दिन-प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करता है। वह केवल वर्तमान काल का ही नहीं, बल्कि भूत काल और भविष्य काल का भी अनुभव करता है। उसकी संचय-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। वह अपने व्यवहार की अन्य व्यक्तियों के व्यवहार के साथ तुलना भी कर सकता है, और जब दूसरों के व्यवहार में कोई विचित्रता देखता है, तो उसका कारण जानना चाहता है। इसलिए वह अपने माता-पिता से या निकट के अन्य व्यक्तियों से हर समय नये-नये प्रश्न पूछता रहता है, और जब तक उसकी उत्सुकता को तृप्त नहीं कर दिया जाता है तब तक उसको चैन नहीं आता है। इस अवस्था में, बालक की उत्सुकता का दमन कदापि नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत उसकी इस मूल प्रवृत्ति को ज्ञान प्राप्त करने की ओर लगा देना चाहिए।

बाल्यावस्था में सामूहिक मूल प्रवृत्ति (Gregarious Instinct) के कारण, बालक में सहयोग की भावना होती है। अब वह अकेला खेलना पसन्द नहीं करता है अतः वह फुटबाल इत्यादि जैसे सामूहिक खेलों को खेलता है। वह किसी समूह का नेता बनता है और समूह की सेवा के लिए अपने को न्यौछावर तक करने को उद्यत रहता है। अब उसमें समूह के नियमों के पालन करने की भावना जाग्रत हो जाती है, इसलिए बाल्यकाल में ही नैतिक निर्माण का प्रारम्भ हो जाता है।

उसका अनुकरण भी आविष्कारपूर्ण हो जाता है। वह न केवल देखी हुई घटनाओं का अनुकरण करता है, अपितु उनमें अपने विचारों तथा बुद्धि के अनुसार परिवर्तन भी कर देता है। इसका कारण यह है कि उसमें अब कल्पना-शक्ति की वृद्धि हो जाती है। बहुत छोटी अवस्था में तो उसकी कल्पना काल्पनिक विश्वासों तक ही सीमित रहती है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् अब वह भी आविष्कारक हो जाती है और तदनुसार वह झूठ-मूट कहानियाँ स्वयं बनाने लगता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है शैशवावस्था

के झूठ पूर्वकल्पित नहीं होते हैं।

इडिपस ग्रन्थि (Oedipus Complex = **पितृविरोधी ग्रन्थि**)—शिशु की कामप्रवृत्ति आदि बाल्यकाल में माता व पिता के प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। यह परिवर्तन प्रायः तीन से पाँच वर्ष तक की आयु में होता है। मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण से यह अवस्था, शिशु के भविष्य के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस अवस्था में शिशुओं के साथ माता-पिता बहुत अत्याचार करते हैं, किन्तु वह ऐसा करते हुए अपने अपराध को स्वयं नहीं जान रहे होते हैं। डॉक्टर फ्रॉयड के मतानुसार लड़का अपनी माता के प्रति और लड़की अपने पिता के प्रति आकर्षित होती है। जब पिता घर में उपस्थित होता है, तो नर शिशु उसकी उपस्थिति को, विशेषकर जब कि पिता कठोरता से व्यवहार करता हो, पसन्द नहीं करता है। उसकी यह दिली इच्छा होती है कि माता से प्रेम करने या पाते समय उसका पिता वहाँ उपस्थित न हो। जब भी कभी प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में पिता पुत्र के लिए, माता के रास्ते में बाधक होकर उपस्थित होता है, तो शिशु के मन में एक भावनाग्रन्थि (Complex) बन जाती है और भविष्य में वह किसी-न-किसी मानसिक जटिलता के रूप में, उसके जीवन में बाधक होती है। डॉक्टर फ्रॉयड ने अपने विस्तृत अनुभवों के पश्चात् यह प्रमाणित कर दिया है कि प्रायः सब मानसिक जटिलताएँ अर्थात् भावनाग्रन्थियाँ (Complexes), शैशवकाल में कामप्रवृत्ति के दमन (Infantile repression of sex) के कारण हैं। उसने शैशवकाल की इस अवस्था को इडिपस ग्रन्थि (Oedipus Complex) कहा है। उसकी यह धारणा है कि इस अवस्था में लड़का अपने पिता को और लड़की अपनी माता को अपना शत्रु समझती है। इडिपस की कथा यूनान के पुराणों में बड़ी विख्यात् है। इडिपस एक प्रसिद्ध राजा लायस (Lius) के घर में उत्पन्न हुआ। उसके माता-पिता ने ज्योतिषियों से सलाह ली। ज्योतिष के विद्वानों ने भविष्यवाणी की कि इडिपस बड़ा होकर पिता का बध करेगा और अपनी माता से विवाह करेगा। राजा ने क्रोध में आकर आदेश दिया कि उस शिशु का बध कर दिया जाय। भाग्य का खेल ऐसा हुआ कि उस शिशु को मरने के लिए घोर जंगल में छोड़ दिया गया किन्तु किसी तरह वह बच गया। किसी अपरिचित व्यक्ति के द्वारा उसका पालन-पोषण हुआ। बड़ा होकर वह एक अद्वितीय योद्धा बना। उसने अपने पिता के राज्य पर चढ़ाई की। युद्ध में उसके हाथों उसका पिता मारा गया और उसने उस देश के नियमानुसार, विजेता होने के नाते वहाँ की महारानी (जो उसकी सगी माता थी) से विवाह किया। उसको यह ज्ञान नहीं था कि वह उसकी सगी माता है। डॉक्टर फ्रॉयड ने इस यूनानी कथा के आधार पर शैशवावस्था की कामप्रवृत्ति और उसके दमन की व्याख्या करने की चेष्टा की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्रॉयड और उनके अनुयायी, शैशवावस्था में, कामप्रवृत्ति की उपस्थिति के सम्बन्ध में बहुत अधिक कट्टर

विचार रखते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार कि जितना कोई समाज, या माता-पिता, शिशु की कामप्रवृत्ति को दबाने की चेष्टा करते हैं उतनी ही उस शिशु में ईर्ष्या बढ़ती है। नर शिशु के अचेतन मन में, अपने पिता को पराजित करने की इच्छा बनी रहती है, और मादा शिशु के अचेतन मन में अपनी माता को। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्रत्येक पुत्र को वास्तव में पिता के विरुद्ध हो जाना चाहिए। मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण के अनुसार पिता और पुत्र में अगाध प्रेम होते हुए भी, पुत्र का अचेतन मन, समान लिंगी पिता के विरुद्ध आन्दोलन करने के लिए उद्यत रहता है और आन्दोलन की यह भावना उसके अचेतन मन में निरन्तर बनी रहती है। डॉक्टर फ्रॉयड का यह सिद्धान्त आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने शत-प्रतिशत तो स्वीकार नहीं किया है, परन्तु फिर भी इस खोज ने व्यावहारिक रूप में बहुत सी भावनाग्रन्थियों की तथा मनोविकारों की सफलतापूर्वक चिकित्सा की है। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, अध्यापक को ध्यान में रखना चाहिए कि बालक की भावनाग्रन्थियाँ तथा त्रुटियाँ सम्भवतः 'इडिपस ग्रन्थि' के कारण हों।

किशोरावस्था—बाल्यावस्था के अन्त में ही किशोरावस्था का पदार्पण हो जाता है। किशोरावस्था शब्द का अर्थ बालक के मनोविकास में, वह अवस्था है, जिसमें कि वह बाल्यकाल की कोमलता से प्रौढ़ता की परिपक्व अवस्था की ओर पग बढ़ाता है। इस अवस्था के लिए निश्चित् रूप से आयु की कोई सीमा नियत नहीं की जा सकती है। प्रायः बारह वर्ष की आयु से सोलह वर्ष की आयु तक किशोरावस्था मानी जाती है। शिक्षा के दृष्टिकोण से यह अवस्था संकटकालीन अवस्था मानी जाती है। इसी अवस्था में बालक का जीवन बनता व बिगड़ता है। यह वह अवस्था है जब कि बालक मूल प्रवृत्तियों की शक्तियों से सम्पन्न, संवेगों के वेग में तीव्र तथा उन्नति के स्वप्नों तथा कल्पनाओं की दुनिया में विचरता हुआ, एक नवीन उत्साह के साथ संसार रूपी तूफ़ानी समुद्र में अपनी जीवन-नौका को डालता है। वह पानी की ऊँच, नीच तथा उसके नीचे छुपी हुई भयानक नाशकारी चट्टानों से अनभिज्ञ होता है। यदि इस तूफ़ान को वह सफलतापूर्वक झेल जाता है, तो वह सफल मनुष्य कहलाता है। संवेगों के जोश के साथ-साथ इसी अवस्था में वह पवित्र तथा विश्वासपात्र होता है और उसी पवित्रता के दृष्टिकोण से संसार को देखता है। अतः उसके विचारों को सुपथ पर डालकर कल्याणमयी दिशा में प्रवृत्त करने का यही सबसे उत्तम काल होता है।

शारीरिक परिवर्तन—किशोरावस्था में बालक के मन के साथ-साथ शरीर में भी जबर्दस्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस समय बालक के सभी अंगों में वृद्धि होने लगती है। लड़कियों की वाणी में कोमलता और लड़कों की वाणी में कर्कशता आ जाती है। मुखाकृति में भेद आने लगता है, पट्ठे दृढ़ होने लगते हैं। भिन्न-भिन्न अंगों पर बाल उग आते हैं। लड़कियों की शारीरिक वृद्धि लड़कों की अपेक्षा कुछ पहले होती है।

दोनों अब अपने शरीर सजाने की चेष्टा करते हैं और सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र पहनते हैं। इस अवस्था में बालकों की शक्ति में वृद्धि होती है जो वह किसी-न-किसी रूप में उस शक्ति का प्रयोग करना चाहता है। यही कारण है कि इस अवस्था में उसको शारीरिक क्रीड़ाएँ अधिक पसन्द आती हैं। उसकी इस प्रवृद्ध शक्ति का सदुपयोग करने के लिए पाठशालाओं में व्यायाम का तथा व्यायामयुक्त क्रीड़ाओं का प्रबन्ध करना नितान्त आवश्यक है। बालक को इस अवस्था में शारीरिक व्यायाम में लगा देने का, एक भारी लाभ यह भी होता है कि उसकी कामप्रवृत्ति (Mating or Sex Instinct) जो कि इस अवस्था की मुख्य मूलप्रवृत्ति (Instinct) है उसको कुमार्ग पर नहीं ले जा सकती है।

कामप्रवृत्ति (Mating or Sex Instinct)—चाहे हम फ्रॉयड के सिद्धान्त को मानें या न मानें, चाहे हम शैशवावस्था तथा बाल्यकाल में कामप्रवृत्ति की अप्रत्यक्ष एव गुप्त उपस्थिति में विश्वास रखते हों या न रखते हों, चाहे हमें शिशु का आत्मप्रेम (Narcissism) तथा बाल्यकाल की दूषित विरोधी ग्रन्थि (Oedipus Complex) रुचिकर हो या न हो, परन्तु इस विषय में दो मत नहीं हो सकते हैं कि इस अवस्था के बालक बालिकाओं में कामप्रवृत्ति की शक्ति की तीव्रता में एक अभूतपूर्व परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन शिक्षा के दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्व रखता है। किशोरावस्था के प्रारम्भिक काल में यह प्रवृत्ति समलिङ्गीय (Homosexual) प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। कई बार यह समलिङ्गीय प्रेम बहुत दृढ़ हो जाता है। हम प्रायः देखते हैं कि इस वयस के दो बालक इतने घनिष्ठ मित्र हो जाते हैं कि वे कुछ क्षणों के लिए भी एक दूसरे से बिछुड़ना नहीं चाहते हैं। बालकों का यह प्रेम सच्चा और निस्वार्थ होता है और अपने इस प्रेम के लिए वे बड़े-से-बड़ा त्याग व बलिदान करने को भी उद्यत रहते हैं। बालकों के इस प्रेम का शिक्षा में विशेष महत्त्व इसलिए होता है कि प्रायः ऐसे बालक एक दूसरे के बिना पढ़ भी नहीं सकते हैं। यदि यह प्रेम निर्दोष और निःस्वार्थ हो तो उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं डालनी चाहिए। यदि बालकों को उचित शिक्षा न दी जाय और उनको मित्रों से कदापि न मिलने दिया जाय, तो उनकी कामप्रवृत्ति का कुमार्ग पर जाने का भय रहता है। जो माता-पिता बालकों के उनके मित्रों से मिलने-जुलने पर कठोर नियन्त्रण रखते हैं और ऐसा करके यह समझते हैं कि बालक को किसी प्रकार की कामप्रवृत्ति का ज्ञान नहीं है, वे भयंकर भूल करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बालक को कामप्रवृत्ति की किसी भी प्रकार की कुचेष्टा या कुपथ पर पड़ने से सदैव बचाना चाहिए, किन्तु इसके साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि उसको काम सम्बन्धी ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ रखना भी उतना ही हानिकारक रहता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का दृढ़ मत है कि ऐसे विषयों में मौन रहने की अपेक्षा बालकों को इस विषय का स्पष्टतापूर्वक, यथार्थ तथा उचित ज्ञान देना अधिक लाभदायक रहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से

अन्य दूसरी सामान्य प्रवृत्तियों (General Tendencies) की तरह इस मूलप्रवृत्ति की सामान्य ज्ञातव्य बातों का सावधानीपूर्वक ज्ञान करा देना तथा समय-समय पर इस उम्र के [illegible] जो इस सम्बन्ध में उत्सुकतापूर्ण प्रश्न करें तथा करना चाहते प्रतीत हों उन-उनका यथायोग्य एवं संतोषजनक उत्तर देना कल्याणकारी रहता है। ज्यों-ज्यों बालक की उम्र बढ़ती है उसका समलिङ्गीय प्रेम विरुद्धलिङ्गीय प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। मनोविज्ञान के अनुभवी विद्वानों की धारणा है कि बालकों और बालिकाओं को इस कामप्रवृत्ति के उचित एवं वास्तविक ज्ञान से वंचित रखने के कारण ही उनमें विभिन्न भावनाग्रन्थियों (Complexes) तथा दुर्व्यसनों की उत्पत्ति होती है। यदि उनको यथोचित एवं वास्तविक ज्ञान करा दिया जाय, तो वे कदापि अप्रामाणिक सूत्रों द्वारा प्राप्त किए गये अशुद्ध ज्ञान पर निर्भर न रहें और न हो निरन्तर भय और लज्जा का शिकार बनकर आयुपर्यन्त कामसम्बन्धी चिन्ता में ग्रस्त रहेंगे। आधुनिक प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकों तथा चिकित्साशास्त्रियों ने इस प्रकार के नये विचारों को विद्वत्समाज के सामने उपस्थित करके तथाकथित नैतिकतावादियों के रूढ़िवाद रूपी दुर्ग में भीषण उथल-पुथल मचा दी है।

एक ओर तो प्रगतिशील मनोवैज्ञानिक हैं जो समाज के सब बन्धनों को तोड़कर इस मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में शिक्षा के क्षेत्र में सर्वथा नया युग आरम्भ करना चाहते हैं और दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा-प्रेमी हैं, जो बालकों को शुद्ध और पवित्र वातावरण में रखकर कामप्रवृत्ति सम्बन्धी किसी भी बातचीत को उनके कानों तक पहुँचाने को सहन नहीं कर सकते। यह ठीक है कि कुछ सीमा तक मनोविश्लेषण के ये नवीन अन्वेषण तथा उनकी व्याख्याएँ न्यायपूर्ण हैं, किन्तु समाज के पवित्र बन्धनों को और युगों की संस्कृति को भी एक साथ उखाड़कर फेंकना खतरों से खाली नहीं है। शिक्षक का कर्तव्य है कि जहाँ तक हो सके, वह शिशु की मूलप्रवृत्तियों को, शिक्षा में बाधक बनाने की अपेक्षा सहायक बनाये। कामप्रवृत्ति भी एक मूलप्रवृत्ति है, अतः शिक्षक का कर्तव्य है कि वह इसे भी बालक के जीवन में सहायक बना दे। तदनुसार यदि बालक की इस शक्ति को अन्य उपयोगी कार्यों में लगा दिया जाय और उसको हानिकारक रूप में बालक पर प्रभाव डालने का अवसर ही न दिया जाय तो अच्छा रहता है। यदि बालकों को कठोर जीवन व्यतीत करने की आदत पड़ जाय और वे ज्ञान प्राप्त करने में भरसक परिश्रम करते रहें, तो कामप्रवृत्ति का स्वयं मार्गान्तरीकरण हो जाता है। प्रातःकाल उठना, उपदेशप्रद गीत गाना, कविता में रुचि रखना तथा अन्य ललित-कलाओं का सीखना, बालकों को हर प्रकार की मानसिक जटिलताओं (भावनाग्रन्थियों) से बचाने में सहायक सिद्ध होते हैं। प्राचीन भारत में ब्रह्मचर्याश्रम का कठोर जीवन इसी दृष्टि से पालन करवाया जाता था।

भ्रमण करने की प्रवृत्ति—किशोरावस्था में बालकों में भ्रमण करने की प्रबल एवं अदम्य इच्छा होती है। कुछ सामाजिक बन्धनों से उकताकर और कुछ पाठशाला के

निरन्तर रूखे काम के कारण बालक पाठशाला की चारदीवारी से तंग आ जाता है, और वह अध्यापकों के नीरस एवं लम्बे-लम्बे भाषणों की अपेक्षा खुले मैदानों में घूमना, ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर चढ़ना और कलकलनाद करती नदियों के जलों में तैरना अधिक पसन्द करता है। उसके मन में स्वाभाविक प्रकृति का प्रेम होता है। यदि बालक की इस प्रबल इच्छा की अवहेलना की जाती है; यदि उसको उसकी इच्छा के विरुद्ध पाठशाला की चारदीवारी के भीतर बैठने को विवश किया जाता है, तो इस दमन की प्रतिक्रियास्वरूप, वह आवारा बन जाता है। इसलिए उसकी भ्रमण करने की प्रवृत्ति को दमन करने के बजाय उसको बालक के लिए लाभप्रद बना देना ही ठीक रहता है। इसी दृष्टि से छात्रों को कभी-कभी मनोहर स्थानों की सैर कराना, किसी उद्यान या नदी-तट या अन्य रम्य स्थान पर उनके लिए प्रीतिभोज का प्रोग्राम बनाना तथा समय-समय पर ऐतिहासिक स्थानों को दिखाने के लिए ज्ञान यात्राएँ (Educational Tours) कराना पाठशाला के कार्य-क्रम के मुख्य अंग होने चाहिएँ।

सामाजिक प्रवृत्ति—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। दूसरे लोगों की उपस्थिति, उनसे मेल-जोल, मनुष्य को स्वभावतया रोचक लगता है। किन्तु यह मूलप्रवृत्ति भी वास्तव में किशोरावस्था में अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट होती है। किशोरावस्था से पूर्व बालक उन खेलों को अधिक पसन्द करते हैं, जिनमें व्यक्तिगत क्रिया होती है, किन्तु किशोरावस्था में वे अधिकतर नर सामूहिक खेलों की ओर आकृष्ट होते हैं। छोटे बालक तो क्रिकेट आदि जैसे खेल खेलते समय उन-उन खेलों में व्यक्तिगत रूप में निपुणता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखते हैं, किन्तु किशोरावस्था में पदार्पण करने के बाद अब बालक को व्यक्तिगत ख्याति प्राप्त करने की अपेक्षा, सारे दल की विजय के लिए प्रयत्न करना अधिक रुचने लगता है। जिस प्रकार फुटबॉल और हॉकी इत्यादि खेलों में बालक, सामूहिक रूप में (Group) क्रिया करते समय सहयोग सीखता है, उसी प्रकार वह पाठशाला में पढ़ते समय भी व्यक्तिगत प्रतियोगिता की अपेक्षा सहयोग की भावना सीख सकता है। उसमें इस प्रकार की सहयोग-भावना उत्पन्न करने के लिए, खेलों में तथा शिक्षा में एक श्रेणी के छात्रों की दूसरी श्रेणी के छात्रों से प्रतियोगिता कराना लाभदायक रहता है। इस अवस्था में बालक स्वार्थ की भावना को त्यागकर परार्थ की ओर अग्रसर होता है और कई बार उसकी परार्थ की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि वह अपना सर्वस्व तक दूसरों के लिए न्यौछावर करने को उद्यत हो जाता है। यह समय बालक के मन में सेवा के आदर्शों के प्रति दृढ़ स्थायी भाव (Sentiments) निर्मित करने के लिए उपयुक्ततम होता है। इस समय बालक न केवल परार्थ की भावना से ओतप्रोत होता है, अपितु वह यह जानने के लिए भी चिन्तित एवं उत्सुक रहता है कि उसके सहपाठी उसके प्रति क्या विचार रखते हैं? अतः अध्यापक को चाहिए कि इस आयु के

बालकों को श्रेणी के नियन्त्रण तथा अनुशासन के रूपों में परिवर्तन करे और छात्रों के दृष्टिकोण के आधार पर नियंत्रण व अनुशासन का कार्यक्रम चलाये। इस अवस्था के बालकों के लिए अधिक-से-अधिक प्रजातन्त्रात्मक अनुशासन प्रचलित करना नितान्त आवश्यक है। किशोरावस्था के बालकों के साथ व्यवहार करते समय अध्यापक को चाहिए कि वह उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करे मानों वह उनका कोई बड़ा भाई या सम्मान-योग्य मित्र है।

कल्पना की उपस्थिति—शैशवावस्था में शिशु का जगत् 'कल्पना' का जगत् होता है, अर्थात् वह 'यथार्थ' में तथा 'काल्पनिक' में भेद नहीं कर सकता। किशोरावस्था में आकर बालक 'काल्पनिक' में तथा 'यथार्थ' में तो भेद समझने लगता है, परन्तु वह फिर भी अपनी काल्पनिक दुनिया में विचरने में आनन्द ले रहा होता है। वह अपने भविष्य के स्वप्न देखता है और नई नई योजनाएँ बनाता रहता है। उसकी यह कल्पनात्मक प्रवृत्ति लाभदायक भी है तथा हानिकारक भी। जब बालक व्यावहारिक जीवन में आत्मप्रकाशन नहीं कर सकता, तो वह कल्पना के द्वारा इस मूलप्रवृत्ति की तृप्ति प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त वह न केवल, हवाई किले बनाने तक ही अपनी कल्पना को सीमित रखता है, अपितु वह रचनात्मक (Constructive) तथा सर्जनात्मक (Creative) कल्पनाएँ करने के भी योग्य होजाता है। यदि बालक की 'कल्पना-शक्ति' को वृद्धि का उचित अवसर तथा ठीक निर्देशन दिया जाय, तो उसकी कल्पना उत्पादक (Productive) बन जाती है और वह भविष्य में एक अच्छा कलाकार, कवि अथवा इञ्जीनियर बन सकता है, किन्तु यदि वह आवश्यकता से अधिक कल्पना करता रहे तो वह जीवन की वास्तविकता में प्रवेश नहीं कर सकता तथा व्यावहारिक जीवन में सफल नहीं हो सकता।

इस अवस्था में बालक का विचारात्मक, क्रियात्मक एवं भावात्मक दृष्टिकोण से सर्वाङ्गीण विकास होता है, किन्तु अनुभव के अभाव के कारण तथा मन की स्वच्छता के कारण, भावात्मक क्षेत्र में उसका प्रेम, श्रद्धायुक्त, सच्चा तथा निःस्वार्थ होता है। उसके संवेग बहुत प्रबल होते हैं और इस समय जिस ओर झुक जाते हैं, आयुपर्यन्त उनका झुकाव उसी दिशा में रहता है। अतः बालकों को धार्मिक शिक्षा देने का सबसे उपयुक्त काल किशोरावस्था है।

किशोरावस्था में बालक का मन कोमल तथा भावुक होता है और वह गुरुजनों के उपदेश पर चलने के लिए, हर समय तत्पर रहता है। क्योंकि इस अवस्था तक बालक का व्यक्तित्व स्थिर नहीं हो चुका होता, उसकी विचारधारा दृढ़ व नियत नहीं हो चुकी होती है, अतः शिक्षकों को चाहिए कि इस अवस्था में वे बालकों के मन पर पवित्र और उच्च विचारों के संस्कार अंकित करें।

अभ्यास

१. शिक्षक के लिए मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों से परिचित होना क्यों आवश्यक है ?
२. मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तर कौनसे हैं, व्याख्यापूर्वक लिखो।
३. शैशवावस्था की व्याख्या करते हुए बतलाओ कि यह अवस्था कौनसी आयु तक सीमित है ?
४. शैशवावस्था में बालक का व्यवहार कौन-कौनसी मूलप्रवृत्तियों के आधार पर होता है ?
५. 'इडिपस ग्रन्थि' का क्या अर्थ है और उसका शिशु के विकास से क्या सम्बन्ध है ?
६. बाल्यकाल में शिशु का विकास मुख्यतया कौन-कौनसी प्रवृत्तियों के आधार पर होता है ?
७. किशोरावस्था का क्या अर्थ है और उसका शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या स्थान है ?
८. किशोरावस्था में बालक का मनोविकास कौन-कौनसी मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर होता है, व्याख्यापूर्वक लिखो।

बीसवाँ अध्याय

मानसिक स्वास्थ्य विधि (Mental Hygiene)

मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य—'शिक्षा-मनोविज्ञान' में मानसिक स्वास्थ्य का विषय सर्वोपरि है, किन्तु जब मनोविज्ञान के पण्डित विद्यालयों में मानसिक स्वास्थ्य पर जोर देने को कहते हैं, तो उसका यह अभिप्राय नहीं होता कि शिशु का शारीरिक स्वास्थ्य उपेक्षणीय या अवांछनीय है। इसके विपरीत मानसिक स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य न केवल आवश्यक है, अपितु अत्यन्त अनिवार्य है। जब तक शरीर स्वस्थ न होगा, कोई भी मानसिक क्रिया सुचारु रूप से नहीं की जा सकती। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में कहा है—

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

धर्म को सफलतापूर्वक चलाने के लिए सबसे प्रथम साधन शरीर है। अर्थात् शरीर स्वस्थ न हो तो कोई कार्य ठीक तरह से सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। मानसिक स्वास्थ्य की शारीरिक उपाधियाँ अभी तक सुनिश्चित नहीं की जा सकी हैं, किन्तु काफी सीमा तक विद्वानों ने इस विषय में खोजें की हैं।

मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने की विधि वैज्ञानिक विधि है। निःसन्देह केवल वैज्ञानिक विधि ही शिक्षा में लाभदायक हो सकती है। यहाँ वैज्ञानिक विधि का अभिप्राय वह विधि है, जो कि अनुसंधानों तथा परीक्षणों के पश्चात् निर्धारित की गई हो। इस विधि को निश्चित् करने के लिए प्रयोग इसलिए आवश्यक हैं, क्योंकि मानसिक स्वास्थ्य विधि का आधार वास्तविकता पर होना अनिवार्य है। अतः त्रुटियों को दूर करने के लिए विश्लेषण के द्वारा तथा परीक्षणों के पश्चात् मानसिक स्वास्थ्य विधि को निश्चित् करना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकों ने शिशु की भिन्न-भिन्न मानसिक समस्याओं के अनुसार इस वैज्ञानिक विधि को भिन्न-भिन्न रीतियों से लागू किया है और काफी सीमा तक शिशु के मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में सफलता प्राप्त की है।

स्वास्थ्य विधि का महत्त्व—बहुत से व्यक्तियों का विचार है कि स्वास्थ्य की बात, चाहे वह शरीर सम्बन्धी हो अथवा मन सम्बन्धी, केवल रोग-ग्रस्त व्यक्तियों के लिए ही उपयोगी हैं, किन्तु इस प्रकार की धारणा मिथ्या तथा भ्रामक है। जिस प्रकार कोई हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ शरीर वाला व्यक्ति शक्तिशाली स्वास्थ्य के कारण आसानी से रोग-ग्रस्त नहीं होता, उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य वाला व्यक्ति मानसिक रोगों से बचा रहता है। अतः बचाव के दृष्टिकोण से मानसिक स्वास्थ्य का होना निश्चित् रूप से लाभदायक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानसिक स्वास्थ्य-विधि छोटे-मोटे मानसिक रोगों का उपचार भी करती है,

किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य हमारी उत्तम शक्तियों की खोज करके उनकी वृद्धि करना तथा हमारे जीवन को अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाना है। अतः एक ओर तो 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' हमें मानसिक रोगों से बचाती है और दूसरी ओर वह इन सब का मंगल करती है। निःसन्देह 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' केवलमात्र सिद्धान्त नहीं है, और उसका उद्देश्य केवल मानसिक स्वास्थ्य को समझनामात्र ही है, बल्कि उसका उद्देश्य तो वास्तविक रूप में स्वास्थ्य की रक्षा और वृद्धि करना है। अतः मानव के जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' हमारे जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त ही लाभप्रद है। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य तो पूर्णतया निश्चित् नहीं किया जा सकता, किन्तु उसका तात्कालिक उद्देश्य मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखना है। श्री न्यूमैन ने अपने 'विश्वविद्यालय का विचार' नामक निबन्ध में शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "जिस प्रकार चिकित्सालय का उद्देश्य टूटे हुए शारीरिक अंग की पूर्ति कर देना है, उसी प्रकार विश्वविद्यालय का उद्देश्य मानसिक स्वास्थ्य का प्रदान करना है।" शिक्षा शिशु की साधारण वृद्धि तथा उन्नति के उद्देश्य को पूरा करती है। यही उद्देश्य 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का है। आधुनिक युग में, शिक्षा शिशु के विकास में उसके समाज के प्रति उपयोगी बनाने के उद्देश्य से सहायता देती है और उसको सामाजिक कर्तव्य-पालन करने के योग्य बनाती है। इसी प्रकार 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' भी हमें उपयोगी जीवन व्यतीत करने की कला सिखाती है। अतः इन दोनों ही का, अर्थात् शिक्षा तथा 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का, एक ही लक्ष्य है।

स्वास्थ्य विधि का क्षेत्र—'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, अतः वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न विज्ञानों से सहायता लेती है। जो विज्ञान किसी भी दृष्टिकोण से मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायता देता है, उसका 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' पूर्णतया उपयोग करती है। मनोविज्ञान तथा शरीर विज्ञान दोनों ही मानसिक स्वास्थ्य विधि के नियमों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार समाज विज्ञान (Sociology), जीव-रसायनशास्त्र (Bio-chemistry) चिकित्सा मनोविज्ञान, जीव शास्त्र, कीटाणु शास्त्र (Bacteriology) तथा शिक्षा-विज्ञान (Pedagogy) इत्यादि 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' को सहायता देते हैं।

शिक्षा और मानसिक स्वास्थ्य—जनसाधारण प्रायः व्यावहारिक जीवन में विज्ञान पर निर्भर नहीं रहते हैं, और उनका जीवन उनके साधारण ज्ञान के आधार पर चलता है। वैज्ञानिक रीति या विधि प्रत्येक क्षेत्र में धीरे-धीरे अपनाई जाती है। हमारे स्वास्थ्य के विषय में भी मनुष्य की प्रकृति ने इसी नियम को लागू किया है। मनुष्य ने व्याधियों से

निवृत्ति प्राप्त करने के लिए असंख्य साधनों का प्रयोग किया है। वह भी समय था जब कि मानसिक तथा शारीरिक रोगों को देवताओं का प्रकोप अथवा भूत-प्रेतों का प्रभाव समझा जाता था। इसी कारण प्रत्येक रोग का उपचार जादू तथा टोने से किया जाता था। मानव का ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ा उसने यह अच्छी तरह समझ लिया कि किसी भी रोग को दूर करने के लिए जादू व टोना का व्यवहार नितान्त मूर्खतापूर्ण है। इसके बाद वे 'रसायन' के चक्कर में फँस गये। मध्यकाल में लोगों को रसायन विद्या पर विश्वास था कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, जो कि खर्च कर सकता था, अपनी पृथक् रसायनशाला रखता था। वास्तव में आधुनिक रसायन शास्त्र की उत्पत्ति उस तथाकथित् रसायन विद्या से ही हुई है। पहले-पहल तो लोगों का विचार था कि रसायन विद्या का उद्देश्य लोहे को सोने में परिवर्तित करना है, किन्तु धीरे-धीरे वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि रसायन विद्या का उद्देश्य प्रकृति की शक्तियों को मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए उपयोग में लाना है। जब इस उद्देश्य से रसायन विद्या में खोजें की गईं तो रसायन शास्त्र की सहायता से तथा औषधियों के प्रयोग से रोगों का निवारण करने के लिए चिकित्सा-विज्ञान (Medical Science) इत्यादि का आश्रय लिया गया। अतः मनुष्य ने अन्त में स्वास्थ्य के लिए विज्ञान का प्रयोग किया। 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का मुख्य उद्देश्य, स्वास्थ्य को बनाये रखने की प्राकृतिक विधियों का उपयोग करना है। क्योंकि विज्ञान हमें प्राकृतिक मार्ग दर्शाता है इसलिए 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' में हमें प्राकृतिक मार्ग ही सहायता दे सकता है। शिक्षा में स्वास्थ्य विधि का इतिहास हमें दो मुख्य बातें बतलाता है। प्रथम यह कि 'स्वास्थ्य-शिक्षा' वह शिक्षा है, जो कि शिशुओं को प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक रीति से दी जाय। शिक्षा के इतिहास के अध्ययन से हम मनुष्य की प्रकृति के विकास को पूर्णतया समझ पाते हैं। इस अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि व्यक्ति की शिक्षा प्रत्येक अवस्था में उसकी प्रकृति तथा आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। जो शिक्षा व्यक्ति की प्रकृति तथा उसकी प्राकृतिक आवश्यकताओं के प्रतिकूल होगी, वह उसके मानसिक स्वास्थ्य के प्रतिकूल भी अवश्य होगी। दूसरी बात जो शिक्षा में स्वास्थ्य विधि का इतिहास हमें बतलाता है, वह यह है कि विज्ञान भी हमें प्राकृतिक मार्ग की ओर ले जाता है। विज्ञान का उद्देश्य प्राकृतिक नियमों की खोज करना तथा विकास अथवा वृद्धि की उपाधियों को निर्धारित करना है। इन प्राकृतिक नियमों तथा उपाधियों के अनुकूल दी गई शिक्षा ही मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हो सकती है।

व्यक्तिगत रीति—मानसिक स्वास्थ्य विधि का उद्देश्य केवल सामान्य नियमों के आधार पर स्वास्थ्य की रक्षा करना नहीं है, अपितु व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी, शिशु के मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखना है। अतः मानसिक स्वास्थ्य विधि व्यक्ति विशेष रीति (Case Method) का भी प्रयोग करती है। इस रीति के अनुसार व्यक्ति विशेष के

सम्बन्ध में सब बातें तथा घटनाएँ इकट्ठी कर ली जाती हैं जो कि उस व्यक्ति विशेष के मानसिक स्वास्थ्य में सहायक हो सकती हैं। अतः उस व्यक्ति के रहने की रीति, उसकी आदतें, उसके रोग का इतिहास, उसके घर का इतिहास, उसके स्कूल का वातावरण, उसका सामाजिक व्यवहार, खेलना इत्यादि सब का जानना आवश्यक है। इन सब बातों को एकत्रित करके श्रेणीबद्ध किया जाता है तथा इनका विश्लेषण किया जाता है, ताकि व्यक्ति विशेष की त्रुटियों का कार्य-कारण सम्बन्ध जान लिया जाय और उसको मानसिक रोग से निवृत्ति प्राप्त करने का उपाय बतलाया जाय। विशेष रीति के परीक्षणों को करने के लिए विशेष सफलतापूर्वक उपयोग में लाने के लिए सतर्कता तथा निपुणता की आवश्यकता है। न केवल व्यक्ति विशेष के विषय में यथार्थ घटनाओं को एकत्रित करने के लिए, अपितु वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए भी विशेष दक्षता या कला (Technique) तथा चिकित्सा का ज्ञान होना आवश्यक है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए अनुभव, ज्ञान तथा कला तीनों का होना लाभप्रद है। यह व्यक्तिगत रीति आधुनिक मानसिक स्वास्थ्य विधि में प्रायः सर्वत्र प्रयुक्त होती है। प्रयोगों तथा खोजों के आधार पर इस रीति की त्रुटियों को दूर किया जा रहा है और इस प्रकार उचित संशोधनों के साथ इसे विशद तथा उन्नत किया जा रहा है। इस रीति के द्वारा न केवल अपराध प्रवृत्ति के अथवा असाधारण कोटि के बालकों की मनोवृत्तियों का अध्ययन किया जाता है, अपितु सामान्य बालकों तथा प्रौढ़ों के विषय में भी इस रीति का प्रयोग किया जाता है। यह रीति 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' के लिए सर्वोत्तम मानी गई है। विशेषकर मानसिक रोगों को पनपने से रोकने के लिए तो यह व्यक्तिगत रीति बड़ा महत्त्व रखती है। इसके द्वारा बहुत सी ऐसी समस्याओं का समय पर पता चल जाता है, जिनकी ओर प्रायः लापरवाही की गई हो। अतः इन समस्याओं को समय पर सुलझाया जा सकता है।

रक्षार्थ मानसिक स्वास्थ्य विधि—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का उद्देश्य शिशुओं को मानसिक रोगों में ग्रस्त होने से बचाना भी है। शिक्षा का उद्देश्य शिशु की शक्तियों तथा उसकी सुप्त प्रवृत्तियों को उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायतार्थ लगाना है। विद्यालय में इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति सुचारु रूप से की जा सकती है। शिक्षक छात्रों में अच्छी आदतों का निर्माण कर सकता है और उन्हें बुरी आदतों से बचा सकता है। प्रतिकूल प्रवृत्तियों से बचाये रखने का कार्य, विशेषकर शैशवावस्था में, वास्तव में उत्तम रचनात्मक कार्य है। प्रारम्भ से ही विद्यालयों में शिशुओं की प्रकृति बदली जा सकती है। अतः विद्यालयों को चाहिए कि वे बालकों को अच्छा स्वभाव तथा स्वस्थ शरीर बनाने की ओर ध्यान देने की शिक्षा भी अवश्य देवें। इसी प्रकार निपुणतापूर्वक तथा उचित समय पर उचित कार्य करने की शिक्षा भी प्रारम्भ से दी जानी चाहिए। विद्यालय में सामान्य सामाजिक व्यवहार की विशेष शिक्षा देने का

भी सुअवसर प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं, जिनको ध्यानपूर्वक शिक्षा देने से सुलझाया जा सकता है । यदि प्रारम्भ से शिशु के संवेग (Emotions) तथा उसके स्थायी भाव (Sentiments) सुचारु रूप से निर्मित हो जायँ तो उसका भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल बन जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य की उपाधियाँ—किन्तु उपरोक्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए मानसिक स्वास्थ्य की उपाधियों का प्रयोग करना आवश्यक है । इस क्षेत्र में अभी खोज जारी है और स्वास्थ्य की सब उपाधियाँ अभी तक निश्चित नहीं हो सकीं। किन्तु फिर भी बहुत सी ऐसी शरीर सम्बन्धी उपाधियाँ निश्चित हो चुकी हैं, जो कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। शरीर के स्वास्थ्य का पूरा-पूरा ध्यान रखना तथा उसे स्वच्छ रखना प्रथम आवश्यक वस्तु है। यदि शरीर स्वस्थ तथा स्वच्छ होगा, तो मन भी स्वस्थ (बलवान्) तथा निर्मल होगा। अंग्रेजी के किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि स्वस्थ दिमाग स्वस्थ शरीर में ही निवास करता है (Sound mind always lives in a sound body)। शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए नेत्रों तथा अन्य इन्द्रियों आदि का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रतिदिन मल-विसर्जन, दाँतों की सफ़ाई करना और ताजे जल से देह को नहलाना बहुत लाभदायक रहता है। भोजन, निश्चित समय पर खाना और उचित आहार का सेवन करना भी परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त निवास-स्थान में शुद्ध वायु तथा प्रकाश का होना भी कम आवश्यक नहीं है । विद्यालयों तथा छात्रावासों में प्रत्येक शिशु के लिए हर प्रकार के उचित क्रिया-कलापों तथा उचित व्यायाम का कराना उसके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य में पर्याप्त सहायक होता है। इसी प्रकार शिशुओं को यथासमय मानसिक स्थिरता तथा मानसिक संयम इत्यादि की शिक्षा देना भी 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का अंग समझा जाता है । 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' के आधार पर शिक्षा का ध्येय विद्यालय के कार्य को सुखद तथा रचनात्मक बनाना है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि शिशुओं पर किसी भी प्रकार का कोई नियन्त्रण न रखा जाय अथवा उनको प्रत्येक क्रिया में पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। दूसरे शब्दों में, 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का लक्ष्य अनुशासनहीन शिक्षा नहीं है । विद्यालय के कार्य को आनन्दमय बनाने का अर्थ शिशु के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के ध्येय को पूरा करना है। इसका अभिप्राय शिशु को इस प्रकार से शिक्षा देना है कि वह रचनात्मक तथा सहयोगात्मक दृष्टिकोण से अपने सामाजिक वातावरण के अनुकूल व्यवहार करे। अर्थात् स्वस्थ शिक्षा वह शिक्षा है, जो शिशु की उत्तम प्रवृत्तियों को विकसित तथा प्रकटित करे और सामान्य क्रियाओं के द्वारा उसके व्यक्तित्व का एकीकरण करे।

'मानसिक स्वास्थ्य विधि' में आदत का स्थान—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, शैशवावस्था में जो संस्कार शिशु में डाल दिये जाते हैं; वह कालान्तर में सुदृढ़ हो

जाते हैं और उसके चरित्र-गठन का आधार बनते हैं। ये संस्कार शिशु के साथ आयुपर्यन्त रहते हैं, क्योंकि 'प्रथम प्रभाव अन्तिम या स्थिर प्रभाव होता है' (First impression is the last impression)। अतः जो आदतें प्रारम्भ में निर्मित हो जाती हैं, वे स्थिर हो जाती हैं। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने की भी आदत बालक में डालने का यत्न करना हितकर है। शिशु की आदतों को ठीक-ठीक क्रम में निश्चित करना बहुत आवश्यक है। यदि शिशु की आदतों को अच्छे मार्ग पर लगाया जाय, तो वह प्रौढ़ होकर स्वयं भी अच्छी आदतों का निर्माण कर सकता है और अपनी मानसिक स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए अपना सब क्रियाओं पर नियंत्रण तथा संयम रख सकता है। यदि शुरू से अवांछनीय—गन्दी आदतें डल जायँ तो फिर भविष्य में वांछनीय—अच्छी आदतें का डालना बहुत कठिन हो जाता है। एक बार कुमार्ग पर चले जाने से फिर अच्छे मार्ग पर आना असम्भव-सा हो जाता है। अच्छी आदतें शिशु को स्वतन्त्रतापूर्वक क्रिया करने में तथा आदत द्वारा की गई क्रिया पर स्वामित्व रखने में पूरी-पूरी सहायता देती हैं, और उसके व्यवहार को सामान्य बनाती हैं। अतः 'मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान' के दृष्टिकोण से अच्छी आदतें बड़ा महत्त्व रखती हैं।

व्यक्तिगत विभिन्नता का प्रभाव—वह भी समय था जब कि व्यक्तियों की परस्पर विभिन्नता का शिक्षा में कोई स्थान ही नहीं था। यदि कोई बालक असामान्य होता तो उसको अयोग्य समझा जाता था। किन्तु मनोवैज्ञानिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वैयक्तिक विभिन्नताएँ मानवीय जीवन के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितनी कि समानताएँ। हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि विभिन्न मनुष्यों के व्यवहार में सर्वदा असमानताएँ तथा विभिन्नताएँ होती हैं। अतः प्रत्येक शिशु के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा की रीति सफल नहीं हो सकती और न ही हम प्रत्येक शिशु के साथ एक ही जैसा व्यवहार कर सकते हैं। शिक्षा देते समय हम शिशुओं की व्यक्तिगत योग्यता, बुद्धिमत्ता, उनका सामाजिक वातावरण, उनकी शारीरिक अवस्था, उनकी आयु तथा उनके लिंग (Sex) इत्यादि के भेदों को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। यदि हम शिक्षा को शिशु की प्रकृति तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहते हैं, तो हमें उसकी वैयक्तिक विभिन्नता के अनुसार ही, उसके सम्बन्ध में शिक्षा की रीति को बदलना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक शिशु दूसरे शिशुओं से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे केवलमात्र अनुकरण के द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करें। शिक्षा का एक मापदण्ड सामान्यता के दृष्टिकोण से अवश्य लाभदायक है। किन्तु हम शिशु के व्यक्तित्व को कदापि यन्त्रवत् जड़वस्तु नहीं समझ सकते। शिशु का अपना स्वतन्त्र, स्वच्छन्द तथा परिवर्तनशील व्यक्तित्व होता है। वह स्वयं मानसिक शक्तियों का केन्द्र है और उसमें विलक्षण प्रतिभा की सम्भावनाएँ हैं। अनेक बार उसकी

विभिन्नता ही सम्भवतः उसकी विशेष उन्नति का कारण बन सकती है। अतः मानसिक स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से शिक्षक को शिशु की वैयक्तिक विभिन्नताओं को ध्यान में लाकर उनका सदुपयोग करके शिशु को उन्नति की ओर अग्रसर करने का यत्न करना चाहिए।

स्वभाव का उपयोग-—शिक्षा के ग्रहण करने में शिशु का स्वभाव सहायक भी हो सकता है और बाधक भी। स्वभाव का साधारण या सामान्य अर्थ है हमारी अन्य व्यक्तियों तथा वस्तुओं के प्रति भावना। हमारे भाव बड़ा महत्त्व रखते हैं। हमारी आदतें भी कई बार हमारे भाव के आधार पर निर्मित होती हैं। बहुत से मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि एकमात्र स्वभाव ही हमारे जीवन का आधार है। जब तक हमारा स्वभाव अथवा हमारी भावना अच्छी न हो, हमारी कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती। जो कार्य स्वाभाविक उत्साह और हर्ष से किया जाता है उसमें अवश्य सफलता प्राप्त होती है। अतः शिक्षक को चाहिए कि वह शिशु के स्वभाव का पूरा-पूरा उपयोग करे और शिक्षा को शिशु के स्थायी भावों तथा सुनिश्चित संवेगों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे। न केवल इतना, अपितु स्वस्थ शिक्षा का उद्देश्य शिशुओं में अच्छे कार्य के प्रति अच्छे स्वभाव तथा स्थायी भावों का निर्माण करना है।

मूलप्रवृत्तियों का महत्त्व—'मूलप्रवृत्तियाँ' मानसिक स्वास्थ्य विधि में विशेष महत्त्व रखती हैं। मनोविश्लेषण ने मूलप्रवृत्तियों के दमन पर काफी प्रकाश डाला है। डाक्टर फ्रॉयड ने तो शैशवावस्था में, कामवृत्ति के दमन को ही सब प्रकार के मनोविकारों, भावनाग्रन्थियों (Complexes) तथा असामान्य व्यवहार का एकमात्र कारण माना है। यदि दमन की अपेक्षा मार्गान्तरीकरण (Substitution) या उन्नयन (Sublimation) के द्वारा इन्हीं सुप्त शक्तियों का सदुपयोग किया जाय, तो शिशु का जीवन अभीष्ट रूप में उन्नत किया जा सकता है। वास्तव में ढंग से बरतें तो प्रत्येक मूलप्रवृत्ति अपने-अपने स्थान पर शिशु के व्यक्तित्व के विकास में, उसकी आदतों के निर्माण में, उसके स्थायी भावों की स्थापना में एवं उसके चरित्र-गठन में प्रबल सहायता देती है। उदाहरणस्वरूप भय जैसी मूल-प्रवृत्ति (Escape or Fear Instinct) भी उपयोगी हो सकती है। भय का अनुभव करना कोई असामान्य या असाधारण क्रिया नहीं है, अपितु अवांछनीय वस्तुओं से भयभीत होना असंगत नहीं है। इसी प्रकार बड़ों के सत्कार के लिए तथा अनुशासन एवं नियंत्रण बनाये रखने के लिए थोड़ी-बहुत भय की मात्रा का होना आवश्यक है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भय के द्वारा शिशु की अन्य मूल-प्रवृत्तियों का दमन कर दिया जाय। 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' की शिक्षा हमें अपने भय को नियन्त्रण में रखने की विधि बतलाती है। इसी प्रकार लड़ने की मूलप्रवृत्ति (Pugnacity Instinct) का भी सदुपयोग करना और इस प्रवृत्ति को परोक्षरूप में

सन्तुष्ट करने के लिए, शिशु को पादकन्दुक (Football) इत्यादि की क्रीड़ा में लगाना मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है।

ज्ञानेन्द्रियों की रक्षा—ज्ञानेन्द्रियाँ हमें बाहरी संसार का ज्ञान देती हैं। शिक्षा के लिए दृष्टिज्ञान तथा श्रवणज्ञान विशेषकर आवश्यक हैं। प्रकृति ने हमें ज्ञानेन्द्रियों के रूप में एक अद्भुत यन्त्र दिया है जो कि हमें सम्यक् ज्ञान देता है। हम प्रायः इस यन्त्र का महत्त्व उस समय जानते हैं, जब कि इसमें कोई दोष उत्पन्न हो जाता है। स्वास्थ्य विधि का उद्देश्य हमें यह सिखाता है कि हम किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों की रक्षा कर सकें। स्वास्थ्य विधि हमें ज्ञानेन्द्रियों का दुरुपयोग करने से रोकती है। बहुत से व्यक्ति ज्ञानेन्द्रिय रूपी यन्त्रों का लापरवाही के कारण दुरुपयोग करके उनकी कार्यक्षमता को खो बैठते हैं और अपने भविष्य को बिगाड़ लेते हैं। विद्यालय में ज्ञानेन्द्रियों की उचित या सम्यक् शिक्षा के द्वारा इन त्रुटियों को दूर किया जा सकता है। श्रीमती मोन्टेसरी (Madam Montessori) का पाठ्यमुक्ति यन्त्र (Didactic Apparatus) इन्द्रिय ज्ञान की शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा शिशु इन्द्रियजनित शिक्षा प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इसके द्वारा उसकी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का उचित तथा पूर्ण विकास होता है और उसके व्यक्तित्व का विकास निर्बाध रूप से होता है। स्वास्थ्य विधि का उद्देश्य नेत्र तथा कर्ण के दोषों का पता चलाना और उनका उचित उपचार कराना भी है, क्योंकि इन ज्ञानेन्द्रियों में दोष उत्पन्न होने से शिशु के व्यक्तित्व का विकास भी रुक जाता है।

उपयोगी कार्य करना—विद्यालय में शिशु को जो कार्य दिया जाय, वह निरर्थक तथा निरुद्देश्य नहीं होना चाहिए। जब तक शिशु के द्वारा की गई किसी क्रिया का कोई उद्देश्य नहीं होता तब तक वह अपनी शक्ति को व्यर्थ में खोता रहता है। उद्देश्य जीवन को एक क्रम दे देता है। केवलमात्र उद्देश्य अथवा लक्ष्य का होना ही पर्याप्त नहीं, अपितु लक्ष्य ऐसा होना चाहिए, जो कि शिशु के मन में यह भावना उत्पन्न करे कि उसका लक्ष्य वांछनीय है। जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास हो जाता है कि उसका लक्ष्य उत्तम तथा उपयुक्त है, तो वह उसकी प्राप्ति के लिए भरसक प्रयत्न करता है। उपयोगी लक्ष्य हमारे ध्यान को आकर्षित करता है। जिस वस्तु की ओर हम ध्यान देते हैं, वह इस बात को प्रकट करती है कि हमारा व्यवहार किस प्रकार का है। अतः हमारा लक्ष्य हमारे चरित्र का प्रतीक होता है। इसके अतिरिक्त जब कोई शिशु किसी उपयोगी उद्देश्य की सिद्धि के लिए कार्य में व्यस्त होता है, तो उसको चिन्ता अथवा भय का अवसर ही नहीं मिलता क्योंकि वह कार्य में इतना मग्न होता है कि वह उसमें बाधा डालकर किसी से झगड़ा नहीं कर सकता। उस समय उसकी सारी शक्तियाँ कार्य में केन्द्रित होती हैं। अतः उपयोगी लक्ष्य के आधार पर शिशुओं को क्रिया में लगाना 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का कर्तव्य है।

अभ्यास

१. 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का क्या अर्थ है और उसका शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या स्थान है ?

२. 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' का 'शारीरिक स्वास्थ्य विधि' से क्या सम्बन्ध है, व्याख्या-पूर्वक लिखो।

३. 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' की कौन-कौनसी उपाधियाँ हैं, सरल भाषा में वर्णन करो।

४. 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' में आदत का क्या प्रभाव पड़ सकता है, और इस वृत्ति का शिक्षा के दृष्टिकोण से क्या उपयोग किया जा सकता है ?

५. व्यक्तिगत विभिन्नता, 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' के दृष्टिकोण से शिक्षा में कहाँ तक सहायक तथा बाधक है ?

६. बालक के मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए, उसके स्वभाव का क्या उपयोग किया जा सकता है ?

७. 'मानसिक स्वास्थ्य विधि' के दृष्टिकोण से मूलप्रवृत्तियाँ, शिशु के व्यक्तित्व के विकास में कहाँ तक सहायक तथा बाधक हो सकती हैं ?

८. विद्यालय में उपयोगी कार्य करना, बालकों के मानसिक स्वास्थ्य की पुष्टि के लिए कहाँ तक लाभदायक है ?